शिक्षा संदर्भ और भाषा

डी० पी० पट्टनायक

H
408
P 274 S

केंद्रीय हिंदी संस्थान • आगरा

H
408
P274S

प्रसार व्याख्यान माला—9

शिक्षा संदर्भ और भाषा

डो० पी० पट्टनायक

केंद्रीय हिंदी संस्थान • आगरा

© केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा

प्रथम संस्करण : 1988

H
408
P 274 S

मूल्य : रु० 10.00

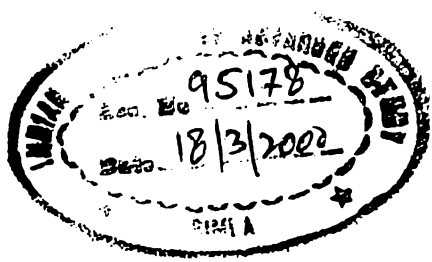

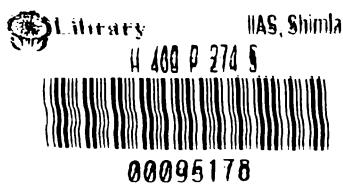

केंद्रीय हिंदी संस्थान, हिंदी संस्थान मार्ग, आगरा-5 द्वारा प्रकाशित और नरेन्द्रा प्रिंटर्स, फ्रीगंज रोड, आगरा-4 द्वारा मुद्रित।

आमुख

केंद्रीय हिंदी संस्थान की स्थापना सन् 1961 में भारत सरकार द्वारा की गयी थी। संस्थान के प्रमुख कार्य हिंदी का प्रचार-प्रसार, हिंदी के अखिल भारतीय स्वरूप संबंधी अध्ययन व अनुसंधान, हिंदी शिक्षण तथा प्रशिक्षण की अधुनातन प्रविधि का विकास, अहिंदी प्रदेशों के हिंदी अध्यापकों का प्रशिक्षण, विभिन्न स्तरों एवं क्षेत्रों के अध्येताओं के लिए भाषा वैज्ञानिक सिद्धांत के आधार पर शिक्षण सामग्री का निर्माण एवं विदेशी अध्येताओं के लिए हिंदी शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था करना रहे हैं।

संस्थान ने सेवा माध्यमों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था का भी प्रावधान किया है जिसमें बैंक कर्मचारियों के हिंदी शिक्षण और प्रशिक्षण का कार्य और उनके लिए बैंकिग हिंदी पाठ्य पुस्तकों का निर्माण भी किया है। राजभाषा विभाग के लिए हिंदी के विभिन्न पाठ्यक्रमों की पुस्तकों के निर्माण का कार्य भी केंद्रीय हिंदी संस्थान ने किया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न भाषायी समुदायों के लिए शिक्षण सामग्री का निर्माण कार्य करने हेतु हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का व्यतिरेकी अध्ययन, विभिन्न अहिंदी भाषी छात्रों द्वारा हिंदी के व्यवहार में होने वाली त्रुटियों का आकलन एवं विश्लेषण किया है। इस प्रकार के अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति से शिक्षण सामग्री निर्माण के लिए अत्यावश्यक हैं। जिनका उपयोग शिक्षण सामग्री के निर्माण में संस्थान द्वारा किया गया है। द्विभाषी शिक्षा के संदर्भ में संस्थान ने मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में उनकी मातृभाषाओं (प्राथमिक कक्षाओं, एवं दो और तीन) के माध्यम से शिक्षा प्रारंभ करके प्रवेश की राज्य भाषा हिंदी में क्रमशः अन्तरण और बाद में हिंदी में शिक्षा प्राप्त कराने की दिशा में भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। इन शिक्षा सामग्रियों का पूरी प्रकार से परीक्षण करके इन्हें अन्तिम रूप में प्रयोग योग्य बनाकर मध्य प्रदेश सरकार के माध्यम से प्रकाशित करवाया है। पूर्वांचल के राज्यों में मिजोरम के लिए पाठ्य पुस्तकों का निर्माण तथा आनुषंगिक पाठ्य सामग्री का निर्माण करवाया गया था। नागालैंड में पाठ्य पुस्तकों का निर्माण अभी पूरा किया गया है जिन्हें राज्य सरकार प्रकाशित कर रही है और अगले सत्र से इनका प्रयोग प्रारम्भ हो जाएगा। इन पुस्तकों के विधिवत प्रयोग हेतु अध्यापक दर्शिकाओं का भी निर्माण किया गया है।

विभिन्न राज्य सरकारों, हिंदी की शिक्षण संस्थाओं तथा अन्य प्रतिष्ठानों के लिए हिंदी शिक्षण सामग्री पाठ्यचर्या, पाठ्य पुस्तकों के निर्माण आदि में भी संस्थान अपनी विशेषज्ञता का लाभ दे रहा है। सम्प्रति संस्थान सिक्किम राज्य के लिए हिंदी भाषा की पुस्तकों का निर्माण अपने निर्देशन में करवा रहा है।

संस्थान हिंदी के विविध पक्षों पर कार्य करने वाली अन्य समानधर्मी संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों में कार्य करने वाले विद्वानों के साथ शैक्षिक स्तर पर सक्रिय संबंध रखते हुए उनके क्षेत्र विशेष की विशेषज्ञता का लाभ उठाता है। इस सहयोग की प्राप्ति विभिन्न संगोष्ठियों तथा प्रसार व्याख्यानों के आयोजन के माध्यम से किया जाता है। प्रसार व्याख्यान माला का आयोजन संस्थान में प्रारम्भिक अवस्था से ही किया जाता रहा है; जिसके अन्तर्गत हिंदी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन, हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, अन्य भाषा के रूप में हिंदी शिक्षण, शिक्षा शास्त्र, भाषा शिक्षण प्रविधि, भाषा और सम्प्रेषण आदि विषयों पर प्रतिवर्ष 2--3 प्रसार व्याख्यान आयोजित किये जाते रहे हैं। इन प्रसार व्याख्यानों को अपने छात्रों एवं विद्वानों के उपयोगार्थ संस्थान प्रकाशित करता रहा है।

शिक्षा की प्रक्रिया में भाषा की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा का अध्ययन-अध्यापन भाषा के रूप में, माध्यम भाषा के रूप में एवं साहित्यक भाषा के रूप में एवं संस्कृति की वाहिका के रूप में किया जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक शिक्षा के संदर्भ और भाषा पर दिए गए तीन प्रसार व्याख्यानों का संकलन है जिसे विद्वान वक्ता ने केंद्रीय हिंदी संस्थान में 14-15 मार्च, 1986 वर्ष में प्रसार व्याख्यान माला के अन्तर्गत दिया था। हिंदी के संबंध में महात्मा गांधी जी ने इस शताब्दी के द्वितीय दशक में कहा था कि "जब तक लोगों के जीवन में हिंदी को उसका राष्ट्रीय स्तर और प्रादेशिक भाषाओं को उनका यथा-योग्य स्थान नहीं दिया जाता तब तक स्वराज्य की सभीं बातें बेकार हैं। यह उक्ति भी उसी दिशा की ओर संकेत करती है, जिस दिशा में इन व्याख्यानों का बल है।

भाषा की भूमिका शिक्षा के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। मातृभाषा में शिक्षा देने के बारे में सभी विद्वान एकमत हो जाते हैं। जिसका एक मात्र कारण यह है कि विषयों की नवीनता परिचित माध्यम भाषा के द्वारा आसीन हो जाती है। जिस देश में लगभग 1600 मातृभाषायें हो जिनका वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से करने पर 200 से 700 तक गिना जा सकता है वहाँ शिक्षा के संदर्भ में भाषा एक विचारणीय प्रश्न बन जाती है। मातृभाषा में शिक्षा प्रारम्भ करने के पश्चात् राज्य भाषा के द्वारा उच्च शिक्षा का प्रावधान, जिसमें साथ ही साथ सम्पर्क भाषा के भी अध्ययन की व्यवस्था हो राष्ट्रीय जीवन की गतिशीलता में योगदान देता हैं अन्यथा

एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में व्यक्तियों का आना-जाना बाधित होने लगेगा। विद्वान लेखक ने इन व्याख्यानों में भाषा की परिभाषा, भाषा की भूमिका, भाषा के प्रकार भाषा नियोजन आदि से संबंधित विवादित मुद्दों को परिभाषित करते हुए उनके कार्यान्वयन की प्रक्रिया का संकेत किया है। आशा है ये भाषण शिक्षा के संदर्भ में सांस्कृतिक और शैक्षिक दृष्टि से भाषा की भूमिका को स्पष्ट करते हुए भाषा नियोजन की दिशा में सही मार्गदर्शन करेंगे।

भाषा ही सामाजिक दृष्टि से, शैक्षिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विभिन्न भाषा-भाषी समाज के बीच एकरूपता कायम रख सकती है।

आशा है यह व्याख्यान केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा प्रकाशित अन्य व्याख्यानों की भाँति शिक्षा के संदर्भ और भाषा की भूमिका के क्षेत्र में विद्वानों को ग्राह्य होगा और इस दिशा में विचार करने के नये आयाम खुल सकेंगे।

(अमर बहादुर सिंह)
कार्यकारी निदेशक

गणतंत्र दिवस 1989

LANGUAGE IN EDUCATION

Growing illiteracy and underachievement of learners at all levels of education are exercising the public mind today. The multiple option Indian Society comes into instant conflict with the limited option planning in education and as a result instead of a system of education for all, we are encountering saturation of education for few and deprivation of many. Centrality of language in education not only from the point of coping with the linguistic demands of subject specialisms and public examinations at specific levels, but as the foundation of concept formation, innovation and creative exploration of knowledge remains grossly underperceived by the education planners. Unless education speaks the languages of the people, neither illiteracy can be combated, science can interact with society to generate a scientific temper and appropriate technology, nor a socially cohesive and culturally diverse pluralist society can sustained.

LANGUAGE : ROLE AND FUNCTIONS

Language distinguishes the human from the animal. It is the Homo Loquen who is the Homo Sapien.

Language is speaking, reading, writing, and comprehending. By speaking human beings relate to one another and form identities; they pass on their skills and knowledge to one another and create technologies, sciences and philosophies. Through understanding, misunderstanding and lack of understanding, they establish relationships of love and hate, co-operation and contest. Through writing they transcend space and time, pass accumulated knowledge to future generations and share it with people living in distant corners. Writing provided avenues for self expression and created audience different from that of the oral society, reading for joy, reading for communications, reading for knowledge and acquisition of skills

provides a depth and complexity to human existence, which is at the basis of human culture.

Language enables one to label objects, events and relationships and establish kinship with the world around.

Language enables to question and argue and thus form and clarify concepts.

Language enables to think and speculate, propelling one to create and innovate resulting in new knowledge, now experience and new interpretation.

Sudden break from the language through which one receives early socialisation and which is the language of early concept formation, with which one dreamt, speculated, argued and discovered one's identity, leads to rootlessness, anomie, alienation and isolation. It disturbs harmonious relationship with the environment and creates gaps and blind spots in perception and cognition. It creates complexes and leads to emotional disturbances. Emotions, when manipulated, result in cataclysmic effects on society.

When a language substitutes another in the domains of education, administration and wider communication, it creates a sense of inferiority complex among the speakers of the substituted language towards their own language. It inhibits questioning and everything given in the new language is accepted as superior, modern and true knowledge. With the passage of time anything written in the substituted language is considered not so modern, unscientific and folksy. Instead of promoting logical thinking, the new language thus hits at the root of development of scientific temper.

Linking one language with another makes the stranger a neighbour. It permits sharing of experience and knowledge of one another, creates a natural bond among peoples and thus an alliance for mutual progress. It creates a respect for the different. When many languages are thus linked with one another through diverse channels, they learn that as the same truth can expressed in different languages without distortion, the same goal can be attained by following different paths. They learn that a mosaic is formed only when different individual pieces have distinct lustre. This is the invisible thread which holds a plural society together.

The home language of a child is the carrier of culture consciousness, the myths and legends of a dream land, the accumulated life experience and wisdom of the people of the past. The stories and rhymes sing to the child of a past, which if it is to grow naturally, is to be linked with an ever changing present and not replaced by one. The purpose of true education is to link thought processes of the past with that of the present and demonstrate how knowledge related to life in space and time in the past and how it related at present. It would then view knowledge as being in the service of humanity and different languages as access points to knowlede. By rationing, controlling and manipulating language, one not only controls access to education and knowledge, but in a fundamental way distorts the history and culture of a people.

DEFINITIONAL PROBLEMS

Someone defined language by saying that one plus ideolect is dialect and one plus dialect is language. One person's total speech is ideolect. This ideolect may consist of one language or many languages. Even when it consists of one language, it consists of many varieties dialects, sociolects, styles and registers. It is seldom uniform. Therefore there is either no ideal speaker-hearer of a single language or if such an one exists it is defined in terms of differential control of multiple varieties. What a person with a single language does with its varieties, a multilingual speaker does with different languages. Many varieties and many languages are not used by one person to perform the same task, but to perform different tasks.

Ideolect is a fiction, it is an abstraction of a life time's language performance of a speaker. Dialect is a geographically defined language variety in the same way as sociolect is a socially defined variety. It is difficult to imprison a living entity like language in a geographical space or stratified slice of society. Language is neither coterminous with a caste, a class nor a geographical division. Sometimes two varieties of a language are understood by one another, other times they may be mutually unintelligible, English as spoken by Australians and Japanese-American may be widely divergent and mutually unintelligible, yet they are considered dialects of the same language. So are Hokkien and Mandarin Chinese, Bengali and Assamese, with a larged degree of mutul intelligibility are two languages. Bhojpuri, Maithili, Awadhi, Braj are dialects of

Hindi, in the same way as Venetian and Cicilian are Italian or Castillian is Spanish. There were times when Oriya and Assamese were claimed to be dialects of Bengali and Malayalam that of Tamil. For a long time the independent identity of Punjabi as a distinct language remained blurred. In different parts of the world dialects which remained focussed for a long time became treated as languages and languages when faded came to be called dialects. It will thus be seen that the term dialect is both complex and controversial. It is also hierarchical in organisation. Scotch English is a dialect of British English and British English is a dialect of English. To take an Indian example, Angika is a dialect of Maithili and Maithili is a dialect of Hindi. In the last analysis dialect must refer to a language. It is related with standardization of language stratification of society.

In the educated mind, even today, the idea persits that an unwritten language is a dialect. Some others feel that even if a language has a script, if it has no literature it is a dialect. Some think that the tribal language are limited languages. In the early twentieth century a scholar writing about the So:ra language said that is had only 700 words. The other day the Head of one of the states in India argued with me that he has written two books in a tribal language and he is convinced that it has no grammar. Generally dialects are considered inferior to language and therefore considered unfit for use in education, administration and serious discourse.

The word 'language' is also perceived differently by scholars and laymen alike. In Tamil, the word **Mori** has the meaning of 'language, to say, speech', and so is the case with **Bhasha** in different Indian Languages, where it has multiple meanings. Chomsky said that there is no such thing as a language on the ground. What approximates to what goes on in the brain is grammar. The common man lives with 'language', and anyone aspiring to be a socio-linguist must take not of it. In a country like India, where 3000 years of linguistic contact and communication among languages has resulted in a common linguistic, socio-linguistic and semantic core irrespective of different family affiliation of language, languages merge into one another. This makes exact delimination of linguistic boundaries difficult. Whether linguistically Kasargod is part of Kerala or Karnataka,

whether villages in the border of Punjab and Haryana should go to one state or another continue to be political moot points.

To all of these is added the vexed definition of 'mother tongue' and its affiliation to language. The mother tongue, in the Indian census has been defined as 'the language spoken by the individual from the craddle', 'the parent tongue', 'language ordinarily used', 'language ordinarily spoken in the household' and the language of the mother. In European census the mother tongue is referred to as the 'thinking language', 'the language of the cultural circle', 'language of everyday use', 'language of their homes'.

The term mother tongue presents certain practical difficulties. First of all, census in India returned Teli, Haridesi, Pardesi etc., as mother tongue which are not languages. Secondly, in patri-local societies in India, mother inveriably adjusts to the cultural environment of father's home, where father's lauguage becomes dominant. Thirdly, in a pluricultural society when a child grows up with more than one language, to separate one as mother tongue becomes difficult. To add all these, when the majority mother tongue in a region becomes a competitor to many smaller mother tongues, defining their relationship in terms of educational use becomes problematic. Those who use L1, L2, L3 to indicate order of introduction of languages in the formal schooling system, confuse the natural weightage of mother tongue as an identity token and the arbitrary weightage given to L1 in the scheme of order of language acquisition.

REALITY AND PLANNING

The linguistic reality of India is that according to the 1961 census there are 1652 mother tongues. Depending on how one counts and classifies there are between 200 and 700 languages. These languages are affiliated to four language families. A large majority is yet to be classified. Each of the major scheduled languages have not only history and literature dating back to a thousand years, but all of them have multiple dialects, sociolects, styles and registers. There are ten major script systems and a host of minor ones. Some languages are written by using five scripts, one script is used for writing five languages. While languages belong to four families, scripts excepting Roman and Arabic belong to one family. Planners who underperceive this diversity also miss the underlying unity and are the

root cause of centrifugal movements. It is not the existence of variation, but its non-recognition that feeds identity assertion movements.

The educational reality is that almost 82 out of 100 enrolled drop out at the end of the seventh standard. Those who go to Secondary Schools, only 30 percent of them pass, and 50 percent out of them in third division. Those who go to colleges and universities, less than twe percent of them come from socially weaker sections. Thus it will be seen that education by passes large majority of people and most of them who come in initial contact are marked 'disabled' and cast aside. There are 400 million illiterates constituting 50 percent of the world illiterate population in the country. The country's Non-Formal Adult Education Budget being only 2 percent of the total education budget, it is absolutely inadequate. What is still more important is that only 58 languages are used as educational languages and that the non-formal adult education is by and large confined to the scheduled languages. There is little awareness among those planning and implementing education programs of the centrality of language in education, the mutually supportive dimensions of adult education and primary education and the need to treat the home language of a child as resource and provide necessary transition to the school language.

If one looks at the demographic profile of the country, it would be evident that there are some States where the majority language is spoken by between 85 and 95 percent of their population; there are some where the majority language is spoken by between 45 and 65 percent of their population; and there are the States where no language is spoken by more than 20 percent of their population. Some of the States and UTs have recognised more than one language as regional languages within their jurisdiction. While the Eighth Schedule of the Indian Constitution recognises 15 languages, the Sahitya Academy has recognised 22 languages. No single language qualified to be the only language of wider communication in the Union. Hindi, spoken by a little over 40 percent of the population presents a divided house and fails to become the emotional refuse of people of different linguistic ancestries. It is made to be perceived as a competitor and a threat to other Indian Languages and in the absence of mechanism to implement Article 351 of the Constitution, it is

often discounted as a regional language. Indian mainstream is a confluence of the many regional and local streams. Without them there is no mainstream. Instead of a conscious effort to crossfertilise different streams of culture, if they are neglected, then what is now recognisable as the mainstream is bound to decimate and be lost.

Looking at the pedagogical reality one is struck at the prejudice and passion ruling the educational scene. Language is either equated with literature or sought to be taught without reference to literature. Those whe climb higher echelons in the ladder of education demand losser and losser language at progressively higher stages. Many languages are cousidered as a burden and a handicap. The educational preference for English is well known. Yet in all discussions of education, Indian languages are posed as adversaries of English. English is sought to be protected not only as the only language which guarantees quality education. opens up our eyes to the larger world, the one language without which science and technology will wilt dragging the country to the superstitious middle ages, but also as the only language which can ensure modernisation. Thus English is promoted as the medium of Science and Technology. Even in dual medium schools this is the practice. As a result of such shastric veneration towards English, anything 'given' in the English language is accepted without question. With English as the primary language of schooling, logical thinking and questioning becomes the premium, inhibiting the creation of a scientific temper. It is forgotten that English, securely based on the foundation of home language education can be a strength, but as a substitute it is debilitation,

There is a belief in the country that if a language is taught for a longer period of time, then it will result in better control. This belief is at the root of the demand for early English education. Compatibility between teacher preparation and language instruction, competibility between the first language and further languages, competibility between the objectives, methods and materials are seldom taken into consideration. If an academic and professional view of education was taken, then learning of English would not receive priority over regional language linked to the home language at the lower levels of education. It would be clear that as one studies local history, regional history, national history and world history, one learns one language of intimate communication one for proximae

communication, one as a link language for national communication and one for international contact in a multilingual set up.

LANGUAGE CURRICULUM

Planners are more concerned about allocation of school time rather than about language proficiency. Thus, one working group of the NCERT suggests as follows :—

Standard	I — V	25% time for mother tongue
Standard	VI — VIII	6/48 Mother Tongue
	IX — X	4/48 Second Language
		4/48 Third Language

A cursery look at the above chart will make it clear that there is no understanding of the functioning of langnages among education planners. It is not realised that primary education is primarily language education. It is also not realised that there is a difference between the role and fuentions of 2nd and 3rd languages. Unless language skills and abilities required for different levels of education are spelt out and methods and materials required to attain the specified level are clearly stated, mere mindless and mechanical allocation of time is bound to defeat the very purpose for which such allocation is made.

In Assam, according to a study, students study on an average 60 pages of English material in a year. The total listening input of a learner, at the rate of 45 hours a year in six years of schooling is 270 hours. 75% of the English teachers do not have an English-English dictionary and 99% do not have an English grammar. Based upon an imperfect control of the first language, which is distant from the home language being either a dialect or a minor/minority language, the minimal ability acquired in the second and third language makes all talk of educational excellence a laughing stock.

A mere scanning of teacher training curriculum shows that there is more emphasis on methodology than on language. If out of 6 hours 2 hours are on actual language, 4 hours are on methodology, which is about the language, mere of metolanguage, mere of discarded or irrelevant practices elsewhere in the world, even about which little literature is locally available, then it is only natural that

teachers less than competent to remedy the deficiency of the students would be produced by the system.

The bogey of falling standard of English has come as an escape and a catharsis for most debators in this situation. There is nothing new in the slogan. Even in England in the 1920s there was debate about the falling standard of English. The debate continues all over the world and more in the post-colonial countries. Two factors are missed by those engaged in this debate. If at sometime in the past when English standard was really high and only 2 of the 5% of the toppers were brilliant, this is true even today. If one takes the top 5% of the expanded sector and compares them with the past, the present will compare favourably. Whether one looks at it from the point of export of man power or the performance of Indians abroad, there is no reason to despair. What has really happened is that the system has failed to provide strategies and wherewithals to the expanded sector to lear languages. The lack of planning and provision is then equated with fall of standard.

The falling standard of language in general and consequent mediocrity in education is because of a teaching strategy which does not treat home language of the child as resource and does not bother to link the home language with the school language. In a multilingual country like India, the distance between home language and school language can be measured in two axes, from dialect to standard and from minor/minority language to the dominant state language, which is the medium of school education. If this distance is not bridged and literacy and education are conducted through second and further languages, cultural perception blind spots are bound to grow.

The classical language enters into the field of discussion at this stage. There are some who argue of revival of classical languages in the same way as Hebrew; there are some others who claim that Sanskrit being a spoken language should be treated at par with the modern Indian languages. Classical languages neither form part of different mother tongue education, nor are they compenion of ancient subject fields such as Ancient Indian History and Culture, Archaeology, Epigraphy, Numismatics, Philosophy. The modern language student does not know about the organic developmental history of

the language and cannot relate modernity with tradition. A Saner policy which does not confine classical languages to the secondary school, does not pose them as competitors of modern languages and which makes them an alley of modern knowledge can only elevate the debate to a rational plane.

The first document of the Government of India on language policy and planning, stated that the three language formula is a strategy and not a goal. It meant that while a minimum package of school literature must contain study of three languages, there is no ceiling to the study of languages. During the past two decades our actions and pronouncements have not only made us to acknowledge in the New Education Policy document the failure in its implementation, but has made languages appear to compete with subjects. It is forgotten that subject competence demands a strong language competence as its foundation. It has been demonstrated that there is strong correlation between competence in languages and in Mathematics. Students whose language competence is low, their mathematical competence is also low. With poor mathematics very little progress can be made in the fields of science and technology. It is therefore, essential that curriculum framers give primary attention to language in education.

TO CONCLUDE

Adult Education as well as primary education are mutually supportive. As these are the stages where non-formal and formal meet for the first time, it is important to build bridges between the two through biliteracy and bilingual primary education.

There are many gaps in research and application which demand that primary to tertiary be treated as a system with both formal and non-formal treated as two different strategies. Then only relationship between the oral and the literate, formal and non-formal, language acquisition and language learning can be studied systematically. Once it is understood that oral and literate societies function differently and both complement one-another, much of the prevalent prejudice will make way for scientific approach to literacy and language teaching in formal schools.

Language distinguishes behavioural phenomena from physical phenomena and instruction from demonstration. Through articula-

tion and specification of situations through languages, people deal both with the factual and counter factual world. By relating self-articulation with world articulation in different ways, different culture groups are formed and so are different philosophies and sciences.

Language development depends on language use. If Indian languages are not used for scientific and technological purposes, the users of those languages are bound to suffer in comparison to languages so used. No language or script has genetic or structural superiority over another. What use one makes of one's literacy and one's language determines the cognitive differences among users of different languages and scripts.

Excepting in most trivial professional settings and in acts of translation, no one uses two languages, two styles, two scripts for performing exactly the same task. It is only when oral and the literate, standard and the colloquial, the majority and minority languages intercommunicate and intermingle that great intellectual and technical creativity takes place. When they are kept apart, walls are build around groups and attrition of knowledge takes place. Study of all great cultures of the world would provide ample evidence for this.

It is therefore, essential to recognise the centrality of language in education and national integration and plan languages for fostering inter-dependent societies constituting a national personality.

The framers of Indian Constitution had envisaged balanced development of Indian languages. By providing safeguards for the maintenance of minority languages and cultures, they sought to prevent cultural genocide on the part of dominated language speakers. There was a premonition that as linguistic redistribution of states would be a powerful release of ethnic energy for freedom movement, one power was consolidated. It may act as affirmation of identity of the majority and as a barrier against the fulfilment of aspiration of minorities.

The Constitution provided that each child must receive instruction in its mother tongue at the primary level. The Constitution thus not only enjoined on the States to recognise the existence of different mother tongues, but develop educational strategies which would link the mother-tongues with the state language in such a way that each learning child is given equality of opportunity to study at the post primary stage through the medium of the state language.

Both the above provisions are observed in their breach. Not a single State has legislated in favour of the mother tongue what is alarming is that while the Hindi region has shown complete apathy to the issue of mother tongue, the recent Gokak movement in Karnataka seeks to get the majority language Kannada recognised as the first language of every child in Karnataka, even though Kannada is spoken by 64% of the State population as mother tongue. In the name of protection of minority languages and cultures protection has been extended to English, and institutions promoting English. The English medium schools run by minority organisations certainly do not protect minority languages and cultures excepting in a marginal and frivolous sense. On the contrary, they are meant for the children of the rich and the powerful elite who are power brokers. By denying primary education through the mother tongues, the children speaking a variety differed from the standard state language are not only condemned to sub-standard achievement in schools, they are placed in a permanently unequal status. By refusing to develop strategies to link the many home languages with the few school languages, both language and subjects are weakened.

It may be mentioned in this connection that Jawaharlal Nehru thought it "axiomatic that the masses can only grow educationally and culturally through the medium of their own languages". Although all the Prime Ministers have reiterated this position, it has not been operationalized either in education or in communication even today.

If one takes the Hindi region as a case in point, it would be apparent that the low literacy rate, the lack of academic excellence, and the general backwardness is relatable to the pursuance of a wrong language policy. Many histories of Hindi literature record as many as twenty nine Hindi dialects. I have not seen a single book which gives the structure of all the dialects and states their relative distance from or nearness to the standard. It is taken for granted that either the children in different dialect regions know school Hindi or it is their duty and responsibility to know it. As more and more dialect speakers are found not so competent either in their mother-tongues or in the school languages after ten or twelve years of study, their opposition to the standard Hindi grows. The Maithili, the Bhojpuri, the Rajasthani and the Pahadi clamour for special identity. These movement are however elite sponsored and thrive on the aspirations of people

for knowledge and power. To the extent they know that Hindi, not the regional variants, is the medium of knowledge and power, they opt for it. To the extent they relise that Hindi is a barrier in the acquisition of literacy, knowledge and power they opt for regional identity. This is a delicate balance held together by the ignorance of the large majority of the people and their elite induced greed.

In recent times the separatist urge found its strongest expression in the Maithili movement. In the Report, The Maithili Language Movement in North Bihar : A Sociolinguistic Investigation, U. N, Singh and his associates have discussed various aspect of the movement. A point that comes and forcefully is the fact that all Hindi supporters including Maharaja Lakshmisagar Singh, Pt. J. Nehru used the argument of keeping the country one by sacrificing the mother tongue. However, as Ramanath Jha articulates the feeling of those involved in the movement, "Protagonists of Hindi did not appreciate this sacrifice of Mithila for the cause of national solidarity". (1968 : 115-17). This feeling of neglect brought the Brahmines and non-Brahmines of Mithila to a single platform and today similar feelings have brought various non-Hindi speaking States on a single platform to oppose Hindi Maithili is not only accepted as the medium of primary education even conceded as the medium of middle and secondary education in Maithili dominant areas of Bihar. No studies are available to show if this has resulted in better control of Hindi at a later stage or deepened the separatist urges and resulted in inadequate control of both. In any case, the fact remains that the education system has not come out with any conscious strategy to link Maithili with Hindi and shows no awareness of the need for this.

In Rajasthan, the voluntary agencies working in the area of adult education have created better motivation for literacy and achieved a good deal of success by adopting sub-regional dialects of Rajasthan as media of intitial literacy. However 'Biliteracy' has neither been accepted as a policy by the Central and State policy making agencies nor researched as a strategy by academic agencies in the Hindi region. The CIIL proposed for biliteracy and bilingual primary education are confined to small scale experiments among marginalized groups.

The Hindi insensitivity to the need of dialect—standard integration has let to many consequences under-perceived by its managers, the most piquant being the present controversy between Haryana and Punjab. The Abohar and Fazilka areas are populated by Wagadis who are extended kins of those living in Rajasthan. Grierson, for reasons of his own, in a small foot note in the Linguistic Survey once said that Wagadis in Punjab are Punjabis. Since Grierson's ghost still rules and the policy making elite with their mono-model orientation are frightened of many languages and even after 40 years of independence have taken no steps for a re-survey, the classification of small groups under major languages followed Grierson's mandate. When head count in the region took place under the glare of publicity, people changed their ethnic label and declared themselves Hindi speakers. This is nothing new. The same process can be seen among sections of the settler Bengalis in Assam as well as in the case of sections of Sindhi and Urdu mother tongue speakers.

The Hindi speaking zone, if it took a rational view of the relationship between the dialect-standard-relationship on the one hand and the minor/minority language and major language on the other would have been accepted as the leader and model for the rest of the country and emotional refuge for all the minorities in the country. But it has singularly failed on both counts. It has not been able to stem the identity assertion of Maithili and Bhojpuri speakers not has it been able to meet movements such as the Jharkhand movement. Without going into the Hindi-Hindusthani controversy suffice it to say that, had Hindusthani been accepted as a label for Hindi, it could have been a stabler macro identity for a larger populace than it stands for now. Referring to the Hindi-Hindusthani controversy Gandhiji had commented, "Our besetting sin is not our differences but our littleness. We rangle over words, we fight often for shadows and lose the substance. It is not our differences that really matter. It is the meanness behind that is ugly" .....is triumph of "littleness". It is necessary to emphasise and reiterate here that the secret of India's integration has been development of a macro-identity which does not threaten micro-identities. Like 'Hindi', 'Hindi' was one such cover term. It was variously known as Hindawi and Bhākhā in different parts of the country. But when macro-identity poses as a threat to micro-identities, it not only surrenders its leadership position, it is caught in the dialectics of internal conflict.

It is a pity that India gave up its leadership in linguistics and sociolinguistics. Indian approach to 'language' and 'community' as layered concepts permitted different groups to coexist inspite of variations. Thus, as long as Konkani identity was not threatened by Marathi, both were considered part of a single macro group. Same is true of Maithili vis-a-vis Angika and Bajjhika. The term Prakrit was a cover term for a large number of spoken tongues and was Apabhramsa. Neither 'language' nor 'group' were considered given or immutable. Even in the case of Sanskrit both Panini and Patanjali showed concern about the structural variation of the language. If Hindi and non-Hindi scholars joined hand in studying the structural variations of Hindi then the contours of Indian Hindi would have been clearly discerned. If educationists concerned themselves about helping children speaking a language different from the school language to maximise the profit from the opportunities presented to them, then Indian educational leadership would have been acknowledged all over the world. If members speaking different varieties were made to see themselves as member of a larger network, Hindi, then Hindi would spread. Any contrary action is bound to constrict it inspite of planned expenditures of money for its propogation.

Different approaches to the vernacular behaviour of segments of population in the Hindi Zone are clearly distinguishable. The approach to Sadri/Sadni speakers, who are stigmatised and looked down upon comes to mind in this context. Sadri is the creole based identity of speakers of a large number of different mother tongue speakers. It is the lingua franca among the tribals in parts of Bihar, Madhya Pradesh and Orissa and the communication language of the tribals and non-tribals of those areas. Although scholars have called it a variety of Hindi, it is difficult to equate it with Bhojpuri or Maithili in terms of their status as dialects. Sadri, therefore, opens up our eyes to the necessity of not treating Hindi as a single language in the conventional sense with statements of variation in its use, but treat it like English or Chinese as a language with statements or relationship and coherence of parts vis-a-vis the whole. A view from this perspective not only illunines the process of formation of Sadri, but brings out the hollowness of the claim of the European theorists that all pidgins and creoles have an European language base. Not only is Sadriformed entirely through contact of Indian languages, so

are Naga and other North-Eastern pidgins and creoles and Desia in the Andhra-Orissa border. It is only the awareness of its own linguistic heterogeneity and respect for difference of other languages in the country that can make Hindi acceptable as the major language of wider communication in the country.

At this stage one can justifiably ask if Hindi is not already the language of wider communication. It is important to understand that in plural societies, like community, identity, ethnicity, language of wider communication is also a layered concept. Here one does not speak of a single language of wider communication, but many languages of wider communication maring spirally from the local to the international. All state regional languages are languages of wider communication for diverse language speakers living in those states. Languages like Sadri, Desia and North-Eastern Pidgins cut across State boundaries and are languages of wider communication for regions. English is a language of wider communication for the educated and Hindi is language of wider communication for the majority of people in the country both educated and uneducated. The communicational base of Hindi can be widened not by treating it as a competitor of or threat to other Indian languages, but through measures which would enhance mother tongue intelligibility and bilingualism.-

Those who speak of English replacing Hindi as a language of wider communication have taken recourse to many distortions. One such distortion is to be found in the speech of no less a person that Maulana Azad. Azad, making a statement in the Constituent Assembly said that "The Union of the North and the South has been possible only through the medium of English. If today we give up English, then, this linguistic relationship will cease to exist." This statement was an answer to those who wanted to replace English by Hindi. But in so doing Maulana not only accepted their logic but also accepted the colonial logic that without the intervention of a colonial language, Indian unity and integrity will be jeopardised. That prior to English, Sanskrit and Dakhni had established bonds of kinship between the North and the South was lost sight of. While the non-Hindi speakers are cautioned against interfering in the other two.

One of the major points of strength in Indian multi-lingualism is that it is possible for one to speak in Hindi and another to respond

in her/his mother tongue and maintain communication at a survival level. Degree of communication potential increases with frequency of encounters and closeness of relationship. But if some languages go in for conscious Sanskritisation, other for de-Sanskritisation and still others for nativisation, Englishisation or Persianisation, then it is bound to create strain and make neighbours strangers. Article 351 of the Constitution provided for the development of Hindi as a national symbol drawing upon the genius of regional languages. This has been not only resisted by Hindi Zealots, but also ridiculated by non-Hindi scholars. Both have missed the spirit of this provision. First of all, this provision does not refer to Mother tongue Hindi, but refers to Second Language Hindi. It makes a distinction between regional Hindi and National language Hindi. It goes without saying that one would influence the other, but the difference is obvious and recognition of the difference is important. Secondly in providing mechanism for the implementation of this provision, a Psychological atmosphere would have been created where non-Hindi speakers would have felt a sense of participation in the process of making a national symbol and a sense of identification through mother tongue intelligibility. It is an irony of history that while talks on national integration multiply, non-implementation of measures envisaged even in the constitution undermine its very basis.

A strange argument differentiating mothertongue Hindi from Rashtra Bhasha Hindi on the one hand and Rajyabhasha Hindi on the other is to be heard these days. The Government is taken to task for not developing Rajbhasha Hindi and for its sluggish performance in its propogation while the non-Hindi speakers are cautioned against interfering in the other two. The protoganists of this view forget that Pan-Indian Hindi and officialese Hindi are intimately connected. The enrichment of both depends to a large extent on the enrichment of mothertongue Hindi. It is not possible to take of one in complete isolation from the others.

All discussions and actions in the country about the language issue is sought to be seen as confrontation. Some speak of Hindi Urdu confrontation representing Hindu Muslim antagonism, least realising that less than 50% of Muslim in the country have claimed Urdu as their mother tongue and Urdu is the sacred heritage of both Hindus and Muslims. Both Hindu and Muslim authors have contri-

buted to its enrichment. Others speak of Hindi and English Confrontation representing national and international antagonism. First of all there is no international without national. Secondly, the more one is local, the more one can be said to be universal. If one cannot react to the misery of the neighbour, one's sympethy for misery people land has to be viewed with suspect. Thirdly, while in dominant monolingual countries people may perform all communicational tasks, through a single language, in a multilingual country many languages are used in defined domains complementing one-another. In my case, for example, I speak Oriya at home, use English for formal communication, use my broken Hindi all over the country for transactional purposes, use Sanskrit for praying as well as a window to the classical world, read Bengali for pleasures and use languages like Marathi and Kannada for identity amclioration. There are some others who speak of Hindi and Indian languages confrontation representing national and regional antagonism. It is important to remember that regional is not anti-national and there is no nation without regions. There may be conflict among regions because of disparity in economic development or political representation, but there can be no confrontation on cultural and linguistic counts, particularly when the country has remained a single culture area so long. A lack of understanding of some of these basic facts has led to the fear psychosis both among the Hindi and non-Hindi populations. While some are afraid that a discussion of the language question may challenge the Constitutional obligation to have Hindi as the official language of the Union, others are afraid that Hindi may be imposed as the sole official language in the long run at the exclusion of all Indian languages. Fear of Hindi replacing English is used to rally other Indian language speakers against Hindi. It needs to be clarified that there is no question of driving out English from the country. In fact the Central assistance to English has been more than to any single Indian language during the past years. Hindi has to play a role different from that of English and there is no need to juxtapose one against the other.

It may be pointed out here that Gandhiji in 1918 wrote that "Unless we give Hindi its national status and the provincial languages their due place in the life of the people, all talk of Swaraj was useless." Although Gandhiji argued for a common language for integ-

gration and communication in India, he was amphatic that the common language must grow with the regional language and not in place of them. Language politicians, for reasons of their own, ignored the second part of his statement, contrary to the principles Gandhi stood for, his name was invoked in favour of Hindi replacing English as the common language.

Unfortunately activation of Article 344(5) by appointing a Committee of 30 members of Parliament and not implementing Article 344(1) and appointing a Commission, not only to examine the official record of progress made by Hindi but for studying the language question in depth with due regard to "the just claims and interests of persons belonging to the Non-Hindi speaking areas in regard to the Public Service" was viewd as a threat by non-Hindi areas. Constitution of such a commission would not only have restored faith on the Government's seriousness about the development of Indian languages, but also would have helped the growth of Hindi in partnership with other languages of the country.

The American Constitution did not specify any official language and yet English was adopted, nurtured and developed for the purpose. However when 'Melting Pot' theory and 'Salad Bowl' theory failed to deliver the goods as expected by the American planners, now there is a demand to officially recognise English as the official language of North America. It is doubtful if this subtle strategy will contain the demand of identity recognition by the blacks and the browns in the USA. In other countries of the world, official languages have been designated on the basis of single largest numerical strength of a language, the largest bilingualism involving a language, and/or the widest acceptability obtained on the basis of planned action. In order to understand why Hindi has not been accepted by the people as the national language inspite of all advantages, it is necessary to examine all the above questions in a wider perspective.

A single symbol of national identity which excludes others is against the cultural genious of a country, which is multilingual, multiethnic, multi-religious and multicultural. Gandhi, who best understood the India ethos and suggested the 'Oceanic Circle' in his last testament as an alternate mode of planning was neither understood nor accepted by leaders who by training were West oriented or were too feeble to defend the traditional culture in face of the modernising

thrust coming from the West and the sectarian forces unleashed by the dialectics of history. Identity assertion of small groups grew as a consequence of and in proportion to the consolidation attempted in the name of a single main stream, linguistic, cultural or developmental, which appeared to favour one interest group at the cost of many. In this context the concluding remarks of the Report on the Maithilt Movement (op cit) are of interest. The report says, "non-recognition of Maithili would be better for the protagonists of the movement because it would then keep the stream of positive contribution to the Maithili language and literature ever-widening until its voluma and richness turned it possibly into an ocean and forced the powers that be to take note of it. By the same logic, Maithili non-recognised may prove to be more dangerous than Maithili recognised to the future governments and administration (p. 113)" This sentiment may will be extended to the regional and national language relationship.

Hindi has been a language of privilege and convenience for few. It has not been a language of authority, of power and of knowledge. Instead of Hindi providing insights and experience for extension of the use of national languages into newer domains, it is posed as an adversory of other Indian languages. Unless attitudes change and languages are perceived as a strength to build upon, Hindi cannot represent the national, political personality of the country and the non-implementation of the Constitutional provisions would continue to threaten the very being of the Indian culture.

शिक्षा संदर्भ और भाषा

लेखक
डॉ० दे० प्र० पट्टनायक

अनुवादक
कु० वीना माथुर

शिक्षा संदर्भ और भाषा

हमारे लिए यह चिंता की बात है कि शिक्षा के सब स्तरों पर छात्रों की उपलब्धि संतोषजनक नहीं और दूसरी ओर प्रयत्नों के बावजूद भी अशिक्षा ही बढ़ रही है। हमारे समाज में एक अंतर्विरोध की स्थिति है—समाज की दृष्टि से चयन करने योग्य विकल्प अनेक हैं, परंतु शिक्षा के क्षेत्र में योजना-निर्माण के विकल्प सीमित हैं। इसके फलस्वरूप 'सबके लिए शिक्षा' के स्थान पर हमें एक ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ रहा है कि कुछ थोड़े-से छात्रों के लिए आवश्यकता से भी अधिक अवसर हैं, तो दूसरी ओर बड़ी संख्या में छात्रों के लिए कोई भी अवसर नहीं। भाषा का शिक्षा में केंद्रीय स्थान है; इस बात का संबंध विभिन्न स्तरों की सार्वजनिक परीक्षाओं और विभिन्न विषयों में विशेषज्ञता के लिए उठने वाली भाषा-संबंधी आवश्यकताओं से ही नहीं, अपितु इस बात से भी है कि शिक्षा-योजनाओं के निर्माता, भाषा को, संप्रत्यय-निर्माण की आधारशिला के रूप में और ज्ञान के क्षेत्र में नूतनता और सर्जनात्मकता के उपकरण के रूप में पूरे तौर पर नहीं समझ पाते। जब तक शिक्षा में जन भाषाओं का व्यवहार नहीं होता तब तक न तो अशिक्षा के प्रसार को रोका जा सकता है, और न विज्ञान और समाज के ऐसे संबंध ही विकसित हो सकते हैं जिनमें वैज्ञानिक सृष्टि और समाज के उपयुक्त टेक्नॉलाजी का निर्माण हो, और न सामाजिक दृष्टि से सुगठित और सांस्कृतिक दृष्टि से विविध-रूपी बहुभाषी समाज को कायम रखा जा सकता है।

भाषा : भूमिका और प्रकार्य

भाषा मनुष्य को पशु से अलग करती है। सवाक् मानव ही प्राज्ञ मानव है—वाणी द्वारा ही वह चिंतन करता है।

भाषा क्या है? बोलना, पढ़ना, लिखना और समझना ही भाषा है। भाषा के व्यवहार के द्वारा लोग एक-दूसरे से संपर्क स्थापित करते हैं और भाषा से ही वे अपनी पहचान बनाते हैं। इसके अतिरिक्त भाषा के माध्यम से ही वे अपने कौशल और ज्ञान को एक-दूसरे तक पहुँचाते हैं और इसी प्रक्रिया में अनेक प्रकार की टेक्नॉलजी, विज्ञान और दर्शन विकसित हो जाते हैं। भाषा-व्यवहार से वे एक दूसरे को समझने की कोशिश करते हैं, कभी गलत भी समझ जाते हैं और कभी पूरा नहीं

समझ पाते, और इस प्रकार उनमें प्रेम और घृणा, एवं सहयोग और विरोध के संबंध स्थापित हो जाते हैं। लेखन के द्वारा लोग स्थान और काल की सीमाओं को दूर कर देते हैं, संचित ज्ञान-राशि को भावी पीढ़ियों तक पहुँचाते हैं, और दूरस्थ प्रदेशों में रहने वालों के साथ उस ज्ञान राशि को बाँटते हैं। लेखन ने एक ओर तो आत्माभिव्यक्ति का अवसर प्रदान किया और दूसरी ओर लिपिविहीन आदिवासी समाज तथा शिक्षित समाज के अंतर को स्पष्ट किया। लिखित सामग्री को पढ़ने के अनेक उद्देश्य हो सकते हैं—आनंद की प्राप्ति, एक-दूसरे को जानना, ज्ञान की प्राप्ति, कौशलों का अर्जन। इससे मानव समाज को अनुभूतिगत गहराई मिलती है और उसके जटिल रूप का निर्माण होता है। ये बातें मानव संस्कृति का मूल आधार हैं।

भाषा के सहारे हम विविध वस्तुओं, घटनाओं और संबंधों को विशिष्ट नामों से अंकित करते हैं और अपने चारों तरफ के समाज से नाते-रिश्ते कायम करते हैं।

भाषा की सहायता से हम जिज्ञासा एवं तर्क करने में समर्थ होते हैं, जिसके फलस्वरूप हमारे संप्रत्ययों का निर्माण होता है और उनमें स्पष्टता आती है।

भाषा की सहायता से हम चिंतन और परिकल्पना में प्रवृत्त होते हैं। रचना और नव-निर्माण के लिए प्रेरित होते हैं, जिसके फलस्वरूप नया ज्ञान, नया अनुभव और नई समझ का विकास होता है।

जिस भाषा के सहारे हमने अपना आरंभिक व्यवहार सीखा और जिसके सहारे हमारे आरंभिक संप्रत्ययों का निर्माण हुआ, जिसमें हमने मीठे सपने देखे, ख्यालों में उड़ानें भरीं, लोगों से बहस-मुबाहसा की और अपनी पहचान को खोजा, उस भाषा से एकाएक टूटकर हम जड़हीनता, निराशा, अलगाव, अपरिचय की स्थिति में जा पड़ते हैं। इससे हम अपने चारों तरफ की स्थितियों के साथ सामंजस्यपूर्ण संबंध नहीं बना सकते। इसके फलस्वरूप हमारा संप्रत्यय और संज्ञान, अपूर्ण तथा सदोष हो जाते हैं। इससे हीन ग्रंथियाँ बनती हैं और हमारा भावनात्मक संतुलन बिगड़ जाता है। संवेगों की ऐसी दशा में समाज में विक्षोभ का जन्म होता है।

जब एक भाषा, शिक्षा, प्रशासन और जनसंचार के क्षेत्रों में दूसरी भाषा को हटाकर उसका स्थान लेती है, तब पदच्युत भाषा बोलने वालों के मन में अपनी भाषा के प्रति हीन भावना पैदा हो जाती है। इस स्थिति से जिज्ञासावृत्ति पर अंकुश लग जाता है और नई भाषा की हरेक बात श्रेष्ठ, आधुनिक और वास्तविक ज्ञान मालूम होती है। समय बीतने के साथ-साथ पदच्युत भाषा की हरेक बात अवैज्ञानिक, कम आधुनिक और चलताऊ लगती है। इस प्रकार नई भाषा हमारी तर्कनिष्ठ चिन्तन शक्ति को विकसित करने के स्थान पर हमारी वैज्ञानिक वृत्ति के मूल पर ही कुठाराघात करती है।

जब विभिन्न भाषा-भाषी मिलते हैं, तो वे अजनबी न रहकर पड़ोसी जैसे हो जाते हैं। भाषा संपर्क द्वारा वे एक-दूसरे के अनुभव और ज्ञान के सहभागी बनते हैं। उनमें सहज संबंधों का विकास होता है और वे एक-दूसरे की प्रगति में सहायक होते हैं। इससे उनमें एक-दूसरे की भाषा के प्रति आदर-भाव पैदा होता है। जब विभिन्न भाषा-भाषी विभिन्न माध्यमों से एक-दूसरे से जुड़ते हैं, तब उन्हें ज्ञान होता है कि जिस प्रकार विभिन्न भाषाओं के माध्यम से एक ही सत्य अविकृत रूप में अभिव्यक्त हो सकता है उसी प्रकार भिन्न मार्गों का अवलंबन करके भी हम एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं। उन्हें यह भी ज्ञान होता है कि पच्चीकारी तभी बनती है जब अलग-अलग पत्थरों में अपनी एक लहक होती है। यह एक अदृश्य सूत्र है जो एक बहुभाषी समाज को बाँधे रखता है।

बालक के घर की भाषा, उसकी सांस्कृतिक चेतना की, स्वप्नलोक की, कहानियों और किस्सों की, और अतीत के समाज की प्रज्ञा और संचित जीवन-अनुभव की वाहिका होती है। बच्चों की कहानियाँ और लोरियाँ उन्हें ऐसे अतीत में ले जाती हैं जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील वर्तमान से जुड़कर बच्चे के स्वाभाविक विकास में सहायक होती हैं। सच्ची शिक्षा का उद्देश्य है अतीतवर्ती चिंतन को वर्तमान से जोड़ देना और यह अहसास कराना कि किस प्रकार अतीत में स्थान और समय के आयामों पर मानव जीवन और ज्ञानराशि के सूत्र परस्पर जुड़ते थे और किस प्रकार वे वर्तमान में जुड़ते हैं। ऐसी शिक्षा ही यह मानेगी कि ज्ञान राशि मानव समाज की उपकारक है और विभिन्न भाषाएँ उस ज्ञान-राशि तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं। भाषा के स्वाभाविक विकास को नियंत्रित कर तथा उसे मनमाने ढंग से मोड़-माड़कर हम शिक्षा और ज्ञान-भण्डार तक पहुँच के मार्गों को ही अवरुद्ध नहीं करते अपितु किसी समाज की संस्कृति और उसके इतिहास को ही विकृत कर डालते हैं।

परिभाषा की समस्या

भाषा की एक परिभाषा दी गई है—एक से अधिक व्यक्तिबोलियाँ मिलकर 'बोली' बन जाती है, तथा एकाधिक बोलियाँ मिलकर 'भाषा' कहलाती हैं। किसी व्यक्ति का समग्र भाषा व्यवहार उसकी 'व्यक्तिगत बोली' (व्यक्तिबोली) कहलाता है। इस व्यक्तिबोली में एक भाषा भी हो सकती है या अनेक भाषाएँ भी हो सकती हैं—व्यक्ति एक भाषा का जानकार हो सकता है या अनेक भाषाओं का। यदि व्यक्तिबोली में एक भाषा होती है तो उस एक भाषा के अनेक भेद-बोलियाँ, समाज बोलियाँ, शैलियाँ और प्रयुक्तियाँ—विद्यमान रहते हैं। इसमें एकरूपता प्रायः नहीं होती। इसलिए इस अकेली भाषा का कोई आदर्श वक्ता-श्रोता या तो होता नहीं, अगर होता भी है तो हम, एक भाषा के विविध भेदों के मध्य विद्यमान अंतरों पर उसका जो अधिकार होता है उसके आधार पर हम आदर्श वक्ता-श्रोता की चर्चा

करते हैं। एक भाषा-भाषी व्यक्ति जो काम वह भाषा के विभिन्न भेदों से साधता है उसी काम के लिए बहु भाषा-भाषी व्यक्ति एक से अधिक भाषाओं का प्रयोग करता है। ऐसा नहीं होता कि एक व्यक्ति एक ही काम के लिए एक भाषा के अनेक भेदों को या अनेक भाषाओं को इस्तेमाल करे। वह अलग-अलग कामों को साधने के लिए अलग-अलग भाषाओं या भाषाभेदों का इस्तेमाल करता है।

व्यक्तिबोली तो कल्पना मात्र है। यह वास्तव में एक भाषा प्रयोगकर्ता के आजीवन भाषा व्यवहार का एक अमूर्त्त रूप मात्र है। बोली वह भाषा-भेद है जो भौगोलिक सीमाओं द्वारा निर्धारित होता है, और समाज-बोली नामक भाषा-भेद वक्ता के सामाजिक स्तर-भेद से जुड़ा है। भाषा जैसी जीवंत वस्तु को भौगोलिक सीमाओं में या समाज के कटे-बँटे टुकड़ों में कैद कर देना संभव नहीं। भाषा की सीमाएँ जाति, वर्ग या किसी स्थान-खंड की सीमाओं में विलीन हो जाती हैं। कभी किसी भाषा की दो बोलियों में पारस्परिक बोधगम्यता रहती है और किन्हीं अन्य दो बोलियों में नहीं रहती है। आस्ट्रेलियावासियों की और जापानी मूल के अमरीकियों की अंग्रेजी एक-दूसरे से काफी अलग और अबोधगम्य है तथापि उन्हें एक ही भाषा की दो बोलियाँ माना जाता है। यही बात होक्किअन और मंदारिन चीनी की भी है (ये दोनों चीनी भाषा की दो बोलियाँ हैं)। बंगाली और असमिया में पारस्परिक बोधगम्यता काफी मात्रा में है तथापि उन्हें दो भाषाएँ माना जाता है। भोजपुरी, मैथिली और ब्रज इसी प्रकार से हिंदी की बोलियाँ हैं, जिस प्रकार वेनेशियन और सिसिलिअन इतालवी के अंतर्गत हैं और कैस्टेलिअन स्पैनिश के। एक समय था जब उड़िया और असमी को बंगला की बोलियाँ माना जाता था और मलयालम को तमिल की। बहुत समय तक पंजाबी भाषा का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा। यह विश्वव्यापी तथ्य है कि जिन्हें बहुत समय तक 'बोली' का दर्जा प्राप्त था वे कुछ समय के बाद 'भाषा' मानी जाने लगीं और जो 'भाषाएँ' थीं वे 'बोलियाँ' मानी जाने लगीं। यह स्पष्ट है कि 'बोली' शब्द जटिल भी है और विवादास्पद भी। संरचना की दृष्टि से इसमें अधिक्रम भी मिलता है, उदाहरणार्थ स्कॉटलैंड की अंग्रेजी, ब्रिटिश अंग्रेजी की बोली है और ब्रिटिश अंग्रेजी, अंग्रेजी की बोली है। भारतीय उदाहरण लें तो अंगिका, मैथिली की बोली है और मैथिली, हिंदी की। यह आवश्यक है कि अन्ततोगत्वा हम बोली को भाषा के साथ जोड़ें। इसका संबंध समाज के भाषा-मूलक स्तर-भेद के मानकीकरण के साथ है।

शिक्षित व्यक्ति आज भी यह समझता है कि जिस 'भाषा' की अपनी लिपि नहीं है, वह 'बोली' है। कुछ लोग यह समझते हैं कि किसी 'भाषा' की लिपि तो है परंतु साहित्य नहीं तो उसे 'बोली' कहना चाहिए। कुछ और लोग जनजातीय भाषाओं को सीमित अर्थों में भाषा (सीमित भाषा) मानते हैं। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में 'सोरा' भाषा का परिचय देते हुए एक विद्वान ने लिखा कि इसमें केवल 700

शब्द हैं। हाल ही में हमारे एक राज्यपाल ने इस लेखक को बताया कि उन्होंने एक जनजाति-भाषा में दो पुस्तकें लिखी हैं और उन्हें यकीन है कि उस भाषा में व्याकरण नाम की कोई चीज़ नहीं है। आमतौर पर बोलियों को 'भाषा' से हीन समझा जाता है और इसलिए उन्हें शिक्षा, प्रशासन और गंभीर चर्चा के योग्य नहीं माना जाता।

'भाषा' शब्द को जनसाधारण और विद्वान लोग अलग-अलग ढंग से समझते हैं। तमिल में 'मोली' का अर्थ है 'भाषा' या 'बोलचाल की ज़ुबान' यही स्थिति भारतीय भाषाओं में 'भाषा' शब्द की भी है—उनमें यह शब्द एक से अधिक अर्थों में प्रयुक्त होता है। चॉम्स्की का विचार है कि भौतिक रूप में 'भाषा' नाम की कोई चीज़ नहीं। मस्तिष्क में होने वाली क्रिया की निकटतम वस्तु को व्याकरण कहते हैं, परंतु साधारण मनुष्य के लिए भाषा एक वास्तविकता है और जो समाज-भाषा वैज्ञानिक होना चाहता है उसे उपर्युक्त बात का ध्यान रखना पड़ेगा। भारत में 3000 वर्ष तक भाषाओं में संपर्क और पारस्परिक संप्रेषण की स्थिति रही जिसके फलस्वरूप एक सर्वसामान्य भाषिक, समाज भाषिक और अर्थगत व्यवस्था विकसित हो गई, भले ही भाषाएँ अलग-अलग परिवारों की रही हों। यही कारण है कि भारत में भाषाएँ एक-दूसरे में लीन हो जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप भाषा की भौगोलिक सीमारेखाएँ निर्धारित करना असंभव हो जाता है। भाषिक दृष्टि से कासरगोड को केरल का भाग मानें या कर्नाटक का, पंजाब और हरियाणा के सीमावर्ती क्षेत्रों के गाँव किस राज्य को दिए जाएँ। ये सब बातें राजनीतिक विवाद के मुद्दे बन गई हैं।

इन सबके साथ, मातृभाषा की परिभाषा, इस पर खूब बहस हो चुकी है, और भाषा से उसकी संबद्धता का सवाल जुड़ गया है। भारतीय जनगणना में मातृभाषा की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं—'वह भाषा जो बच्चा पालने में बोलता है; माता-पिता की भाषा; आम तौर पर व्यवहृत भाषा; घर के भीतर आम तौर पर व्यवहृत भाषा; माता की भाषा'। यूरोप की जनगणना में मातृभाषा की परिभाषाएँ हैं—विचार की भाषा; सांस्कृतिक व्यवहार की भाषा; दैनिक व्यवहार की भाषा; घर के भीतर व्यवहृत भाषा।

मातृभाषा शब्द के साथ अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ जुड़ी हुई हैं। पहली बात तो यह है कि भारतीय जनगणना में तैलंी, हरिदेसी, परदेसी आदि भी मातृ-भाषाओं के रूप में दर्ज हैं, यद्यपि ये भाषाएँ नहीं। दूसरी बात, पति-स्थानिक समाज में बच्चे की माँ हमेशा ही बच्चे के पिता के घर के सांस्कृतिक परिवेश को स्वीकार कर लेती है और घर में पिता की भाषा ही प्रधान हो जाती है। तीसरी बात, संस्कृति-बहुल समाज में बच्चे प्राय: एक से अधिक भाषा का समान रूप से व्यवहार

करते हैं और तब किसी एक को मातृभाषा मानना बड़ा कठिन हो जाता है। समस्या तब अधिक जटिल हो जाती है जब एक विशेष क्षेत्र में बहुसंख्यकों की मातृभाषा की अल्पसंख्यकों की मातृभाषा से स्पर्धा हो जाती है, और फलस्वरूप शिक्षा के स्तर पर उन मातृभाषाओं के संबंध को निर्धारित करने की आवश्यकता सामने आती है। जो लोग प्रथम भाषा, द्वितीय भाषा, तृतीय भाषा इन शब्दों का प्रयोग, स्कूली शिक्षा में भाषाओं की पढ़ाई आरंभ करने के संदर्भ में करते हैं, वे भाषा-अर्जन के क्रम में मातृभाषा के स्वाभाविक महत्व को पहचान के चिन्ह की तरह इस्तेमाल कर और प्रथम भाषा को मनचाहा महत्व देकर उलझन पैदा करते हैं।

यथार्थ स्थिति और योजना निर्माण

1961 की भारतीय जनगणना के अनुसार भारत में कुल 1652 मातृभाषाएँ हैं। यह भी स्पष्ट रूप से पता नहीं है कि 200 से 700 तक की भाषाओं को किस प्रकार गिना और वर्गीकृत किया गया है। इन सभी भाषाओं का संबंध चार भाषा परिवारों से है और अनेक भाषाओं का तो अभी वर्गीकरण होना शेष है। प्रत्येक मुख्य अनुसूचित (संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित) भाषा का अपना निजी एक हजार वर्ष पुराना सिर्फ इतिहास और साहित्य ही नहीं है, बल्कि उनकी अनेक बोलियाँ, समाज-बोलियाँ, शैलियाँ और प्रयुक्तियाँ भी हैं। दस मुख्य लिपियाँ हैं और उप-लिपियों की तो गिनती ही नहीं। एक ओर कुछ भाषाओं को लिखने के लिए पाँच-पाँच लिपियों का प्रयोग किया जाता है, तो दूसरी ओर पाँच भाषाओं को लिखने के लिए एक ही लिपि का। यहाँ की सभी भाषाएँ चार भाषा परिवारों से संबंधित हैं, पर लिपियाँ, रोमन और अरबी को छोड़कर, सिर्फ एक ही परिवार से संबंधित हैं। इसे हम केन्द्रापसारी प्रवृत्ति कहेंगे और इसके मूल में हैं वे योजना-निर्माता जो न केवल इस विविधता के बोध से वंचित हैं, अपितु इसमें निहित एकता को भी नहीं देख पाते। अपनी अलग पहचान के दावों का जो आन्दोलन इस समय चल रहा है, उसका कारण विकासशीलता की उपर्युक्त स्थिति नहीं, अपितु इस स्थिति की सत्ता को स्वीकार न करना है।

शैक्षिक जगत् की स्थिति यह है कि 82 प्रतिशत छात्र सातवीं कक्षा के अंत तक पढ़ाई छोड़ देते हैं। सैकेंडरी स्कूल तक पढ़ने वाले छात्रों में से सिर्फ 30 प्रतिशत ही पास होते हैं और उनमें से भी 50 प्रतिशत तृतीय श्रेणी पाते हैं। विद्यालय और विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले छात्रों में सामाजिक रूप से कमजोर वर्गों के छात्र दो प्रतिशत से भी कम होते हैं। इस प्रकार लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या शिक्षा से वंचित रह जाती है और उनमें से अधिकतर जो सर्वप्रथम शिक्षा के संपर्क में आते हैं उन्हें अयोग्य करार कर छोड़ दिया जाता है। देश में 40 करोड़ अशिक्षित हैं, जो विश्व की अशिक्षित जनसंख्या के 50 प्रतिशत हैं। शिक्षा के संपूर्ण बजट का सिर्फ दो प्रतिशत ही अनौपचारिक प्रौढ़ शिक्षा के लिए है, जो कि बिलकुल अपर्याप्त है।

अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह है कि सिर्फ 58 भाषाओं का ही प्रयोग शिक्षा देने में किया जाता है और अनौपचारिक प्रौढ़ शिक्षा सिर्फ अनुसूचित भाषाओं में ही दी जाती है। शिक्षा-योजनाओं के निर्माताओं और उन्हें कार्यान्वित करने वाले अधिकारियों को इस बात का अहसास नहीं कि शिक्षा में भाषा का केंद्रीय स्थान है तथा प्रौढ़ शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा परस्पर सहायक होती हैं, और इस तथ्य के प्रति भी वे सचेत नहीं कि बच्चे के घर की भाषा को एक संसाधन मानना चाहिए और स्कूल की भाषा तक संक्रमण में उन्हें समुचित सहायता दी जानी चाहिए।

देश की जनसांख्यिक स्थिति को देखने से ज्ञात होता है कि कुछ राज्यों में बहुसंख्यक भाषा उनकी जनसंख्या के 85% से 95% तक द्वारा बोली जाती है और कुछ राज्यों में बहुसंख्यक भाषा उनकी जनसंख्या के 45% से 65% तक द्वारा बोली जाती है और कुछ राज्यों में कोई भी भाषा उनकी जनसंख्या के 20% से अधिक द्वारा नहीं बोली जाती है। कुछ राज्यों और केंद्रशासित प्रदेशों ने अपने अधिकार-क्षेत्र में एक से अधिक भाषाओं को क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में मान्यता दे दी हैं, जबकि भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में सिर्फ 15 भाषाओं को मान्यता दी गई है और साहित्य अकादमी द्वारा 22 भाषाओं को। कोई भी अकेली एक भाषा संघ में देशव्यापी संप्रेषण की भाषा बनने योग्य नहीं है। 40% से अधिक द्वारा बोली जाने वाली हिंदी भाषा, विभिन्न भाषा-भाषी लोगों से भावनात्मक रूप से जुड़ने में असफल हुई है। हिंदी को अन्य भारतीय भाषाओं की प्रतिस्पर्धिणी और उनके लिए खतरे के रूप में पेश किया गया है और संविधान के अनुच्छेद 351 को न लागू करने की स्थिति में अक्सर इसके क्षेत्रीय भाषा के स्वरूप को नजरंदाज कर दिया गया है। भारतीय मुख्यधारा अनेक क्षेत्रीय और स्थानीय धाराओं का सम्मिलन है। उनके बिना मुख्य धारा का कोई अस्तित्व नहीं है। संस्कृति की विभिन्न धाराओं को परस्पर उर्वर बनाने के लिए प्रयत्न करने के स्थान पर यदि उन्हें नकारा जाता है तो वर्तमान में मान्य मुख्यधारा का धीरे-धीरे क्षीण होकर विलुप्त हो जाना निश्चित है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि शिक्षा जगत में पूर्वाग्रह और भावावेश व्याप्त है। भाषा को या तो साहित्य से अभिन्न माना जाता है या उसे साहित्य से काट दिया जाता है। जो लोग उच्च शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे उस स्तर पर कम-से-कम भाषा की माँग करते हैं। अनेक भाषाओं को एक बोझ और बाधा समझा जाता है। शिक्षा में अंग्रेजी को दी गई वरीयता को सभी जानते हैं। फिर भी शिक्षा की सभी चर्चाओं में भारतीय भाषाओं को अंग्रेजी की शत्रु के रूप में पेश किया जाता है। अंग्रेजी को सिर्फ इसीलिए बढ़ावा नहीं दिया जाता कि यह उच्चकोटि की शिक्षा की गारंटी है, वृहत्तर विश्व को जानने का माध्यम है और इसके बिना विज्ञान और प्रौद्योगिकी क्षीण

होकर देश को अंधविश्वासी मध्यकाल की ओर धकेल देंगे बल्कि इसलिए भी कि अंग्रेजी ही एक ऐसी भाषा है जो आधुनिकता के प्रवेश को सुनिश्चित कर सकती है। इस प्रकार अंग्रेजी को विज्ञान और प्रौद्योगिकी के माध्यम के रूप में आगे बढ़ाया गया है। द्विभाषिक माध्यम वाले स्कूलों में भी इसी का व्यवहार किया जाता है। अंग्रेजी के प्रति ऐसे सम्मान के कारण ही अंग्रेजी में लिखी हुई कोई भी चीज बिना ननुनच के ही स्वीकार कर ली जाती है। शिक्षा, तार्किक चिंतन और जिज्ञासा की प्रधान भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त अंग्रेजी वस्तुतः एक देनदारी है, जो वैज्ञानिक अभिवृत्ति के विकास में बाधा डालती है। हम यह भूल गए हैं कि यदि अंग्रेजी, गृह भाषा में दी गई शिक्षा की नींव पर मजबूती से खड़ी हो तो वह एक शक्ति हो सकती है और यदि वह उसी की जगह ले ले तो आधार कमजोर हो जाएगा।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि किसी भी भाषा को लंबे समय तक सिखाने से उस पर अच्छा नियंत्रण हो जाता है। यही विश्वास प्राथमिक स्तर पर अंग्रेजी शिक्षा की माँग करने के मूल में है। इस बात पर ध्यान कम ही जाता है कि शिक्षक तैयार करने और भाषा सिखाने के, प्रथम भाषा और अन्य भाषाओं के तथा उद्देश्यों, विधियों और शिक्षण-सामग्रियों के बीच कितनी संगति है। यदि शिक्षा को एक शैक्षिक और व्यावसायिक दृष्टि से देखा जाए तो अंग्रेजी-शिक्षण को शिक्षा के निम्न स्तरों पर गृहभाषा से जुड़ी हुई क्षेत्रीय भाषा पर अग्रता प्राप्त न होगी। यह स्पष्ट ही है कि जैसे स्थानीय इतिहास, क्षेत्रीय इतिहास, राष्ट्रीय इतिहास और विश्व इतिहास का अध्ययन किया जाता है, वैसे ही, बहुभाषिक स्थिति में अंतरंग संप्रेषण के लिए एक भाषा को सीखा जाता है तो निकटस्थ संप्रेषण के लिए दूसरी भाषा को, और राष्ट्रीय संप्रेषण के लिए संपर्क भाषा के रूप में तीसरी भाषा को, और अंतर्राष्ट्रीय संपर्क के लिए किसी अन्य भाषा को।

भाषा पाठ्यक्रम

योजना-निर्माता भाषा-दक्षता के स्तर को बढ़ाने से अधिक इस बात पर ध्यान देते हैं कि भाषा पढ़ाने के लिए स्कूल में कितना समय दिया जाए। रा० शै० अ० प्र० प० के एक कार्यदल ने इस संबंध में निम्न सुझाव दिए हैं—

कक्षा I—V	25% समय मातृभाषा के लिए
कक्षा VI—VIII	6/48 मातृभाषा
IX—X	4/48 द्वितीय भाषा
	4/48 तृतीय भाषा

उपर्युक्त चार्ट पर एक सरसरी दृष्टि से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा के योजना-निर्माता भाषाओं की कार्य-प्रणाली से बिलकुल अनभिज्ञ हैं और न ही वे यह जानते हैं कि प्राथमिक शिक्षा मूलतः भाषा शिक्षा ही है और दूसरी और तीसरी

भाषाओं की भूमिका और प्रकार्य अलग-अलग हैं। जब तक हम शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए अपेक्षित भाषा-कौशल और योग्यताओं का खुलासा नहीं करते, और विशेष स्तर की प्राप्ति के लिए अपेक्षित शिक्षण विधियों और सामग्रियों का विवरण प्रस्तुत नहीं करते, तब तक समय का मात्र बुद्धिहीन और यांत्रिक आवंटन उस उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहेगा, जिसके लिए ऐसा आवंटन किया गया है।

एक अध्ययन के अनुसार असम में विद्यार्थी एक वर्ष में अंग्रेजी के औसतन 60 पृष्ठ पढ़ते हैं, उनकी ही अंग्रेजी-श्रवण की कुल मात्रा, एक वर्ष में 45 घंटे के हिसाब से 6 वर्ष की शिक्षा में कुल 270 घंटे हैं। 75% अंग्रेज़ी शिक्षक अंग्रेज़ी-अंग्रेज़ी कोष का प्रयोग नहीं करते और 90% अंग्रेज़ी व्याकरण का। स्थिति यह है कि प्रथम भाषा पर पर्याप्त अधिकार नहीं हो पाता और यह भाषा भी छात्रों की गृहभाषा से, चाहे वह बोली हो या गौण/अल्पसंख्यक भाषा, दूर है। ऐसी हालत में द्वितीय और तृतीय भाषाओं में न्यूनतम योग्यता ही अर्जित हो पाती है और इसीलिए शैक्षिक उत्कृष्टता की सारी बात मज़ाक बनकर रह जाती है।

शिक्षक-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम को देखने भर से ही पता चल जाता है कि इसमें भाषा से अधिक पद्धति पर ज्यादा जोर दिया गया है। मान लीजिए कि 6 घंटों में से 2 घंटे वास्तविक भाषा के लिए हैं और 4 घंटे भाषा पढ़ाने की पद्धति के लिए, जिसमें भाषा की भाषा (निरूपक भाषा) की तथा उपेक्षित और बेकार की विधियों की चर्चा ही अधिक लेती हैं और ये ऐसी चीज़ें हैं जिनके विषय में थोड़ा-सा भी साहित्य स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित ही होगा कि छात्रों की कमजोरी को दूर करने में अक्षम शिक्षक ही हमें शिक्षा व्यवस्था से प्राप्त होंगे।

अंग्रेजी के गिरते हुए स्तर का हौआ दिखाकर तथाकथित अधिकांश विचारक इस स्थिति से बच निकलते हैं। इस नारे में अब कुछ भी दम नहीं है। 1920 में इंगलैंड में भी अंग्रेजी के गिरते हुए स्तर के बारे में विवाद हुआ था। वैसे तो यह विवाद संपूर्ण विश्व में हुआ परंतु उपनिवेशवाद से मुक्त देशों में अधिक हुआ है। इस बहस में संलग्न लोगों के ध्यान में दो बातें नहीं आईं। एक, यदि पहले किसी समय जब अंग्रेजी का स्तर वस्तुतः ऊँचा था और सर्वोच्च 5% में से सिर्फ दो ही मेधावी होते थे, तो यह बात आज भी सत्य है। दो, यदि वृहत्तर क्षेत्र को सर्वोच्च 5% की तुलना अतीत की स्थिति से करें, तो यह तुलना वर्तमान के अनुकूल होगी। चाहे इसे मानव-शक्ति के निर्यात की दृष्टि से देखें या भारतीयों के विदेशों में प्रदर्शन की दृष्टि से, दोनों ही स्थितियों में इसमें निराश होने की कोई बात नहीं है। वास्तविकता यह है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था भाषा सिखाने के लिए वृहत्तर क्षेत्र को समुचित शिक्षण नीति और साधन सामग्री उपलब्ध कराने में असफल सिद्ध हुई है। योजना-निर्माण और सामग्री की कमी को ही स्तर की गिरावट मान लिया जाता है।

सामान्यत: भाषा का गिरता हुआ स्तर और इसके फलस्वरूप शिक्षा में आया दरम्यानापन गलत शिक्षण नीति के कारण हो, जिसमें बालक की गृहभाषा का साधन के रूप में प्रयोग नहीं होता और न उसे स्कूली भाषा से जोड़ने का प्रयास ही होता है। भारत जैसे बहुभाषी देश में गृहभाषा और स्कूली भाषा के बीच की दूरी को दो आयामों पर मापा जा सकता है—एक, बोली से मानक तक, और दूसरा, गौण / अल्पसंख्यक भाषा से राज्य की राजभाषा तक, जो प्रधान होने के साथ-साथ स्कूली शिक्षा की माध्यम भाषा भी है। यदि इस दूरी को पाटा नहीं गया और साक्षरता और शिक्षा द्वितीय और अन्य भाषाओं में ही दी जाती रही तो बालक संस्कृति के अनेक पक्षों का ज्ञान पाने से वंचित रह जाएँगे।

चर्चा के इस पड़ाव पर क्लासिकल भाषाओं के बारे में भी कुछ सोचा जा सकता है। कुछ लोग चाहते हैं कि हमारे यहाँ क्लासिकल भाषाओं का पुनरुज्जीवन उसी ढंग से हो जैसे हिब्रू का हुआ है। कुछ अन्य लोगों का मत है संस्कृत का व्यवहार बोलचाल में भी होने के कारण उसे अन्य भारतीय भाषाओं के समान ही दर्जा मिलना चहिए। क्लासिकल भाषाएँ न तो विभिन्न मातृभाषाओं के शिक्षण का अंग हैं और न वे प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति, पुरातत्वविज्ञान, पुरालेखा-शास्त्र, मुद्राशास्त्र, दर्शन आदि की ही सहचर हो सकती हैं। आधुनिक भाषा के छात्रों को भाषा के सर्वांगीण विकासात्मक इतिहास के बारे में कोई जानकारी नहीं है और न ही वे आधुनिकता को परंपरा से जोड़ सकने में समर्थ हैं। संतुलित या विवेकपूर्ण नीति यह होगी कि क्लासिकल भाषाओं को न तो सेकेंडरी स्कूलों तक सीमित रखा जाए और न उन्हें आधुनिक भाषाओं की प्रतिस्पर्धी बनने दिया जाए, और साथ ही उन्हें आधुनिक ज्ञान की वाहिका के रूप में प्रयोग में लाया जाए।

भाषानीति और योजना से संबंधित भारत सरकार के प्रथम दस्तावेज़ के अनुसार त्रिभाषा-सूत्र एक सहायक नीति है, उद्देश्य नहीं। इसका मतलब यह है कि स्कूल स्तर पर कम से कम तीन भाषाओं का अध्ययन हो, परंतु इसका मतलब यह नहीं है कि तीन से अधिक भाषाएँ नहीं पढ़ाई जा सकतीं। नई शिक्षा नीति के प्रलेख में इस बात को स्वीकार किया गया है कि गत दो दशकों के दौरान हमारे काम और बातें ऐसी रही हैं कि त्रिभाषा सूत्र के कार्यान्वयन में हमें न केवल असफलता ही मिली है, वरन् भाषाएँ, विषयों से होड़ करती प्रतीत होने लगी हैं। इस बात को हम भूल गए कि किसी विषय में सक्षम होने के लिए एक सशक्त भाषा-क्षमता की भी आवश्यकता है। यह सिद्ध हो चुका है कि भाषा-क्षमता और गणित-क्षमता के बीच गहरा सह-संबंध है। जो छात्र भाषा में कमजोर होते हैं वे गणित में भी कमजोर होते हैं। इस प्रकार कमजोर गणित के साथ विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी कमजोर रह जाते हैं। इसलिए, यह आवश्यक है कि पाठ्यक्रम निर्माता शिक्षा में भाषा की स्थिति पर सबसे पहले ध्यान दें।

उपसंहार

प्रौढ़ शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा दोनों ही एक-दूसरे के पोषक हैं । इन्हीं स्तरों पर क्योंकि अनौपचारिक शिक्षा और औपचारिक शिक्षा का संगम होता है, अतः इन दोनों को मिलाने के लिए प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर दो भाषाओं में साक्षरता तथा शिक्षा की व्यवस्था अपेक्षित है ।

त्रिभाषा-सूत्र के अंतर्गत प्रथम से लेकर तृतीय भाषा तक एक अविच्छिन्न शृंखला है, जिसमें औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा दो अलग-अलग लक्ष्य साधक नीतियाँ हैं । इस स्थिति को पुष्ट करने के लिए समुचित शोधकार्य और शोधमूलक प्रायोगिक कार्य की आवश्यकता है । तभी निरक्षर और साक्षर औपचारिक और अनौपचारिक, भाषा-अर्जन और भाषा-शिक्षण के बीच के संबंध का सुव्यवस्थित रूप से अध्ययन किया जा सकता है । यदि हम यह बात समझ लें कि निरक्षर और साक्षर दोनों ही वर्ग भिन्न रूप से कार्य करते हैं और दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं तो औपचारिक शिक्षा के स्कूलों में साक्षरता और भाषा-शिक्षण के संबंध में प्रचलित पूर्वाग्रहों के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टि का विकास हो सकेगा ।

मानव-व्यवहारमूलक एवं प्राकृतिक परिस्थितियों का तथा अनुदेशन (निर्देश देना) एवं प्रदर्शन (करके दिखाना) का अंतर भाषा के माध्यम से ही प्रकट होता है । परिस्थितियों के संकेत और उनके विभिन्न विवरण के द्वारा हम लोग वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार के संसारों की मीमांसा करते हैं । आत्मतत्व की अभिव्यक्ति और बाह्य तत्व की अभिव्यक्ति के संबंधों की विविधता के फलस्वरूप ही विभिन्न सांस्कृतिक वर्गों, दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टियों का निर्माण होता है ।

किसी भी भाषा का विकास उस भाषा के प्रयोग पर निर्भर है । यदि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में भारतीय भाषाओं का प्रयोग नहीं किया जाता तो उन भाषाओं के प्रयोगकर्ता इन क्षेत्रों में प्रयुक्त भाषाओं के प्रयोगकर्ताओं से पिछड़ जाएँगे । कोई भी भाषा या लिपि दूसरी भाषा या लिपि से पारिवारिक संबंध या संरचना (बनावट) की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं है । अलग-अलग भाषाओं और लिपियों के प्रयोगकर्ताओं में जो संज्ञान संबंधी अंतर दिखाई देते हैं वह इस बात पर निर्भर हैं कि कौन व्यक्ति अपने अक्षर ज्ञान तथा भाषाज्ञान का कैसा प्रयोग करता है ।

मामूली किस्म की दो-चार व्यावसायिक परिस्थितियों और अनुवाद के प्रसंगों को छोड़कर, किसी एक ही कार्य के लिए दो भाषाओं, दो शैलियों और दो लिपियों का समान प्रयोग कोई भी नहीं करता । उच्चस्तरीय बौद्धिक तथा तकनीकी सर्जनशीलता तभी आ पाती है, जब निरक्षर और साक्षर, मानक और बोलचाल की, तथा बहुसंख्यक तथा अल्पसंख्यक भाषाओं में तथा अल्पसंख्यक भाषाओं में परस्पर,

संप्रेषण होता है। जब उन दो धाराओं को एक-दूसरे मे अलग कर दिया जाता है, तब उनके बीच दीवारें खड़ी हो जाती हैं और ज्ञान का ह्रास होने लगता है।

विश्व की महान संस्कृतियों का अध्ययन करने पर इस तरह के अनेक उदाहरण मिल जाएँगे।

अतः ऐसे भाषा-नियोजन की आवश्यकता है, जो शिक्षा और राष्ट्रीय एकता में भाषा के केंद्रीय महत्व को पहचान सके और एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व को बनाने वाले परस्पर-निर्भर समाजों को विकसित कर सके।

भारतीय संविधान के निर्माताओं ने भारतीय भाषाओं के संतुलित विकास की कल्पना की थी। अल्प-संख्यकों की भाषाओं और संस्कृतियों के अनुरक्षण को सुरक्षा प्रदान कर वे बहुसंख्यक भाषा-भाषियों की ओर से संभावित संस्कृति संहार को रोकना चाहते थे। उन्हें इसका पहले से ही बोध था कि राज्यों का भाषावार पुनर्गठन होने से स्वतंत्रता आंदोलन के लिए प्रचुर मात्रा में जातीय शक्ति उपलब्ध होगी। अतः उसे संतुलित करने के लिए एकीभूत सत्ता को प्रतिष्ठापित किया गया। संभावना यह थी कि यह संगठित शक्ति बहुमत की पहचान को पुष्ट करेगी और अल्पसंख्यकों की आकांक्षापूर्ति में बाधक होगी।

सविधान के अनुसार प्रत्येक बच्चे को प्राथमिक स्तर पर उसकी मातृभाषा में ही शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार संविधान ने राज्यों को अलग-अलग मातृभाषाओं की सत्ताओं को स्वीकार कर लेने के लिए ही बाध्य नहीं किया, परंतु उन पर ऐसी शिक्षण-नीतियाँ व्यवहार में लाने का दायित्व डाला, जिनकी सहायता से बच्चों की मातृभाषाएँ, राज्य की राजभाषा से इस प्रकार जुड़ जाएँगी कि प्रत्येक स्कूली बालक को राज्य की राजभाषा के माध्यम से माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा का समान अवसर मिल सके।

उपर्युक्त दोनों ही प्रावधानों का उल्लंघन हुआ है। किसी भी राज्य ने मातृ-भाषा के समर्थन में कोई कानून नहीं बनाया है। चिंता की बात तो यह है कि हिंदी क्षेत्र में मातृभाषा की पूरी तरह उपेक्षा की गई है, जबकि कर्नाटक में, हाल ही में हुए गोकाक आंदोलन में वहाँ के बच्चे की प्रथम भाषा के रूप में बहुसंख्यकों की कन्नड़ भाषा को मान्यता प्राप्त कराने की कोशिश की गई है, यद्यपि राज्य की जन-संख्या के 34% लोग ही कन्नड़ मातृभाषी हैं। अल्पसंख्यक भाषाओं और संस्कृतियों की सुरक्षा के नाम पर अंग्रेज़ी को तथा अंग्रेज़ी को बढ़ाने वाली संस्थाओं को सुरक्षा प्रदान की गई है। अल्पसंख्यक संस्थाओं द्वारा संचालित अंग्रेज़ी माध्यम स्कूलों में अल्पसंख्यक भाषाओं और संस्कृतियों की सुरक्षा तो नाममात्र को ही होती है। इसके विपरीत, ऐसे स्कूलों में अमीरों, प्रभावशाली विशिष्ट जनों और सत्ता के दलालों के बच्चों को ही प्रवेश मिलता है। राज्य की मानक राजभाषा से भिन्न भाषा बोलने

वालें वालकों को प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में नहीं मिलती। फलस्वरूप, स्कूलों में उन्हें न केवल निम्नस्तरीय होने का दोषी ठहराया जाता है, वरन उन्हें स्थायी रूप से शेष छात्रों से असमान, अतएव निम्न स्तर का भी मान लिया जाता है। अनेक गृहभाषाओं को कुछ स्कूली भाषाओं से जोड़ने की नीतियों को बढ़ावा न देने के कारण ही छात्रों का भाषा-ज्ञान और विषय-ज्ञान दोनों ही कमजोर हो गए हैं।

इस संदर्भ में, जवाहरलाल नेहरू के इस विचार का उल्लेख करना उचित होगा कि "शैक्षिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जनसाधारण का विकास उनकी अपनी ही भाषा के माध्यम से संभव है, यह बात स्वयंसिद्ध है।" यद्यपि सभी प्रधान मंत्रियों ने इस बात को दोहराया है, फिर भी आज तक इसे शिक्षा या सामान्य संप्रेषण की परिस्थितियों पर लागू नहीं किया गया है।

हिंदी क्षेत्र को दृष्टि में रखने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि साक्षरता की निम्न दर, शैक्षिक श्रेष्ठता की कमी और सामान्य पिछड़ेपन का कारण गलत भाषा-नीति ही है। हिंदी साहित्य के अनेक इतिहासों में हिंदी की अधिक-से-अधिक 29 बोलियों को गिनाया गया है। मैंने (लेखक ने). एक भी ऐसी पुस्तक नहीं देखी है, जिसमें हिंदी की सभी बोलियों की संरचना दी गई हो और उनकी मानक भाषा से परस्पर दूरी या समीपता को बताया गया हो। यह मान लिया गया है कि या तो हिंदी के विभिन्न बोली क्षेत्रों में बच्चे स्कूली हिंदी को जानते हैं या उस हिंदी को जानना उन्हीं का कर्त्तव्य और जिम्मेदारी है। अधिकतर बोली बोलने वाले छात्र 10 या 12 वर्ष की पढ़ाई के बाद भी अपनी मातृभाषा में या स्कूल की भाषा में पर्याप्त दक्ष नहीं हो पाते हैं, इसीलिए मानक हिंदी से उनका विरोध बढ़ जाता है। मैथिली, भोजपुरी राजस्थानी और पहाड़ी अपनी अलग या विशिष्ट पहचान के लिए संघर्ष कर रही हैं। इन आंदोलनों को चुनिंदा लोगों का ही समर्थन मिला है, और ज्ञान और सत्ता की प्राप्ति के लिए चुनिंदा लोग जनसाधारण की आकांक्षाओं पर ही फलते-फूलते हैं। वे क्षेत्रीय बोली के स्थान पर हिंदी को वहीं तक स्वीकार करते हैं, जहाँ तक उन्हें हिंदी से ज्ञान और सत्ता की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत, वे हिंदी के स्थान पर क्षेत्रीय बोली को उस सीमा से अपनाएँगे, जहाँ हिंदी उनके लिए साक्षरता, ज्ञान और सत्ता की प्राप्ति में बाधक बनने लगती है। क्षेत्रीय बोली तथा हिंदी के बीच इस नाजुक संतुलन का दारमदार इस बात पर है कि अधिकतर लोगों को एक ओर तो उपर्युक्त सचाई का पता नहीं और दूसरी ओर चुनिंदा वर्ग ने उनमें सत्ता आदि की प्राप्ति का लोभ पैदा कर दिया है।

हाल ही में, अलगाववादी भावना मैथिली आंदोलन में सशक्त रूप से अभिव्यक्त हुई है। 'उत्तरी बिहार में मैथिली भाषा आंदोलन : एक समाज भाषा-वैज्ञानिक सर्वेक्षण' इस शीर्षक सर्वेक्षण के प्रतिवेदन में उदय नारायण सिंह और

उनके सहयोगियों ने इस आंदोलन के अनेक पक्षों की चर्चा की है। इसमें यह बात स्पष्ट तथा सशक्त रूप से उभरी है कि महाराजा लक्ष्मीसागर सिंह तथा पं० जवाहर लाल नेहरू सहित सभी हिंदी समर्थक देश को एक बनाए रखने के लिए मातृभाषा के बलिदान पर अधिक जोर देते थे। तथापि, रामनाथ झा ने इस आंदोलन में सलग्न लोगों की भावनाओं को इन शब्दों में उद्घाटित किया है "राष्ट्रीय भाई-चारे के लिए हिंदी के कट्टर समर्थकों ने मिथिला के इस बलिदान की सराहना नहीं की।" (1968 : 115-17)। उपेक्षा की जिस भावना ने मिथिला के ब्राह्मण वर्ग और अब्राह्मण वर्ग को एक ही मंच पर ला खड़ा किया था, आज वैसी ही भावनाएँ अनेक अहिंदी भाषी राज्यों को हिंदी का विरोध करने के लिए एक ही मंच पर ले आई हैं। फलस्वरूप, बिहार के मैथिली-भाषी क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा के साथ-साथ माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के माध्यम के रूप में भी मैथिली को स्वीकार कर लिया गया है। तथापि, ऐसा एक भी अध्ययन उपलब्ध नहीं है, जिससे यह पता चल सके कि इस तरह की व्यवस्था के बाद छात्रों का हिंदी पर आगे चलकर पहले से अधिक अधिकार हुआ है या इससे अलगाववादी भावना को बढ़ावा मिला है, जिसके फलस्वरूप छात्रों का दोनों पर ही पर्याप्त अधिकार नहीं हो पाया। बहरहाल, सचाई यह है कि शिक्षा व्यवस्था मैथिली को हिंदी के साथ जोड़ने के लिए न तो कोई स्पष्ट नीति अपनाई गई है और न इसकी आवश्यकता ही अनुभव की गई है।

राजस्थान में कार्यरत स्वयंसेवी संस्थाएँ प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में साक्षरता प्रसार के लिए प्रौढ़ों को अधिक अभिप्रेरित करने में सफल हुई हैं और उन्हें यही सफलता इसलिए मिली है कि शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर माध्यम के रूप में उन्होंने राजस्थान की उप-क्षेत्रीय बोलियों का प्रयोग किया है। तथापि, केंद्र और राज्यों के नीति-निर्माताओं ने द्वि-साक्षरता को एक नीति के रूप में स्वीकार नहीं किया है और न हिंदी क्षेत्र में शैक्षिक संस्थाओं ने एक नीति के रूप में ही इस पर कोई शोधकार्य किया है। केंद्रीय भारतीय भाषा संस्थान ने द्वि-साक्षर और द्वि-भाषी प्राथमिक शिक्षा के संदर्भ में जो सुझाव दिए थे उन्हें न्यूनतम समूहों के बीच छोटे स्तर के परीक्षणों तक ही सीमित रखा गया है।

बोली और मानक के एकीकरण की आवश्यकता के प्रति हिंदी की उदासीनता से ऐसे परिणाम निकले हैं जिन्हें संबद्ध अधिकारीगण स्पष्टतया पहचान नहीं पा रहे हैं। इसका सबसे दिलचस्प उदाहरण है हरियाणा और पंजाब के बीच चल रहा वर्तमान विवाद। अबोहर और फाज़िल्का में वागडी जनजाति के लोगों की बहुलता है। ये राजस्थानवासी लोगों की नाते-रिश्तेदारी में हैं। अपने भाषा सर्वेक्षण में ग्रियर्सन ने, न मालूम क्यों, एक छोटी पाद-टिप्पणी में पंजाब में रहने वाले वागडी लोगों को पंजाबी कहा है। क्योंकि ग्रियर्सन का भूत अब भी हम पर सवार है, क्योंकि

नीति निर्माता 'एक ही भाषा हो' के मॉडल को मानते हैं और इसलिए भाषाओं की अनेकता से सहमे-से रहते हैं, और, क्योंकि स्वतंत्रता के 40 वर्षों के बाद भी पुनः सर्वेक्षण के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया है, अतः ग्रियर्सन की मान्यता के आधार पर गौण भाषाओं को मुख्य भाषाओं के अंतर्गत समाविष्ट कर लिया जाता है। जब इस क्षेत्र में प्रचार की चकाचौंध में जनगणना हुई तब लोगों ने अपने पर लगे जनजातीय ठप्पे को बदलकर स्वयं को हिंदी-भाषी घोषित कर दिया। यह कोई नई बात नहीं है। यही बात असम में बसने वाले कुछ बंगालियों में हुई और ठीक ऐसी ही चीज सिंधी और उर्दू मातृभाषियों में घटित हुई।

यदि हिंदी-भाषी क्षेत्र ने एक ओर तो बोली-मानक भाषा संबंध और दूसरी ओर अल्पसंख्यक और मुख्य भाषा के बीच के संबंध की तर्कनिष्ठता को समझा होता तो उसे संपूर्ण देश के लिए अग्रणी और नमूने के रूप में और देश में सभी भाषाई अल्पसंख्यकों के लिए भावनात्मक शरण भूमि के रूप में स्वीकार कर लिया गया होता। लेकिन हिंदी-भाषी क्षेत्र दोनों ही स्तरों पर पूरी तरह से असफल हुआ है। यह न तो मैथिली और भोजपुरी-भाषियों के पहचान के दावे का दमन कर सका है और न झारखंड आंदोलन जैसे आंदोलनों को ही दबा सका है। हिंदी-हिंदुस्तानी के विवाद में पड़े बिना यह कहना पर्याप्त होगा कि यदि 'हिंदी' के स्थान पर 'हिंदुस्तानी' के नाम को स्वीकार कर लिया गया होता, तो यह आज की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी जनसंख्या के लिए एक स्थायी बृहद् पहचान हो सकती थी। हिंदी-हिंदुस्तानी विवाद के संदर्भ में गांधीजी ने कहा था कि "हमारी चिरकालीन कमजोरी हमारे मतभेद नहीं हैं, बल्कि हमारी क्षुद्रता है, हम शब्दों के जाल में उलझते रहते हैं, हम अक्सर परछाईं के पीछे भागते हैं और सारतत्व को खो देते हैं। हमारे मतभेदों का इतना महत्व नहीं। इसके पीछे वस्तुतः हमारी नीचता है, जो बुरी चीज है।" यह 'क्षुद्रता' की जीत है। यहाँ इस पर जोर देना और उसे दोहराना आवश्यक है कि भारत की एकता का रहस्य है एक बृहत्-स्तरीय पहचान का विकास, जो लघुस्तरीय पहचानों के अस्तित्व को जोखिम में नहीं डालती। उदाहरण है, 'हिंदी'। 'हिंदी' एक ऐसा ही सर्वसमावेशी शब्द है, जिसके अन्य नाम 'हिंदवई' और 'भाखा' देश के विभिन्न भागों में प्रचलित थे। लेकिन जब बृहत् पहचान, लघु पहचानों के लिए एक खतरा बन जाती है, तब यह न सिर्फ अपनी नेतृत्व शक्ति से वंचित हो जाती है, अपितु यह आंतरिक संघर्षों के द्वन्द्व में भी फँस जाती है।

यह खेद का विषय है कि भारत ने भाषा विज्ञान और समाज भाषा विज्ञान के क्षेत्र में अपने नेतृत्व को छोड़ दिया है। भारतीय दृष्टि में 'भाषा' और 'समुदाय' ऐसी संकल्पनाएँ हैं, जिसमें अनेक स्तर हैं और इसी कारण, थोड़े-बहुत अंतरों के होने पर भी विभिन्न वर्गों का सह-अस्तित्व संभव है। इस प्रकार जब तक कोंकणी की पहचान को मराठी से खतरा पैदा नहीं हुआ, तब तक दोनों एक ही बृहत् समूह के

अंग के रूप में जानी जाती थीं। यही स्थिति मैथिली की तुलना में अंगिका और वज्जिका की है। 'प्राकृत' और 'अपभ्रंश' भी इसी प्रकार के सर्वसमावेशी नाम हैं। न तो 'भाषा' को अपरिवर्तनीय माना गया, न समुदाय को। पाणिनी और पतञ्जलि दोनों ने ही संस्कृत भाषा की संरचना में विकल्पन की स्थिति पर ध्यान दिया है। यदि हिंदी और अहिंदी विद्वान, हिंदी के संरचनात्मक विकल्पनों का एक-साथ मिलकर अध्ययन करें तभी भारतव्यापी-हिंदी की रूपरेखा को स्पष्ट रूप से पहचाना जा सकेगा। यदि शिक्षाशास्त्रियों ने स्कूली भाषा से भिन्न भाषा का प्रयोग करने वाले बच्चों पर ध्यान दिया होता तथा इस प्रकार उपलब्ध अवसर का अधिकतम लाभ उठाया होता तो सारा संसार शिक्षा के क्षेत्रों में भारत के नेतृत्व को स्वीकार कर लेता। यदि अलग-अलग बोलियाँ बोलने वाले वर्ग अपने को एक ही केंद्र से जिसका नाम 'हिंदी' है, बरबस जुड़ा हुआ अनुभव कर सकें, तो हिंदी के प्रसार का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। इसके विपरीत उठाए गए कदम इसे मिटा सकते हैं, चाहें इसके प्रसार के लिए कितना भी धन व्यय क्यों न किया जाए।

हिंदी क्षेत्र के लोगों की मातृभाषा-व्यवहार के विषय में विद्वानों की अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। इस संदर्भ में सदरी/सदनी-भाषियों की बात लीजिए जिन्हें अपनी बोली के कारण हिकारत की नजर से देखा जाता है। सदरी एक क्रिओल भाषा है और एक ऐसे वर्ग की पहचान बन गई है, जिसमें अलग-अलग मातृभाषा-भाषियों के अनेक वर्ग समाविष्ट हैं। बिहार, मध्यप्रदेश और उड़ीसा के विभिन्न क्षेत्रों में जनजातियों के बीच यह परस्पर संपर्क की भाषा है और उन क्षेत्रों की जनजातियों और गैर-जनजातियों के बीच संप्रेषण की भाषा है। यद्यपि विद्वान् इसे हिंदी का ही एक भेद मानते हैं, फिर भी इसे भोजपुरी या मैथिली के समकक्ष मानना इसलिए मुश्किल है, क्योंकि इनकी स्थिति 'बोली' की है, जबकि 'सदरी' को बोली कहना कठिन है। 'सदरी' की इस स्थिति के आधार पर हिंदी को हम ऐसी एकान्वित भाषा नहीं मानेंगे, जिसमें व्यवहार क्षेत्र के अनुरूप प्रयोग-भेद अंतर्भुक्त हैं, वरन् उसे अंग्रेज़ी और चीनी के समकक्ष कहेंगे जिसमें अंगांगीभाव का संबंध है। हिंदी अंगी है, बोलियाँ अंग) तथा अंगों में संसक्ति का गुण है। इस परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से सदरी की संरचना की प्रक्रिया न सिर्फ स्पष्ट होती है, बल्कि यूरोपियन सिद्धांतवादियों के इस दावे को झूठा सावित करती है कि सभी पिजिन और क्रिओल की आधार-भाषा कोई-न-कोई यूरोपियन भाषा ही है। सदरी न केवल पूर्णतः भारतीय भाषाओं के संपर्क से बनी क्रिओल है, बल्कि नागा और अन्य उत्तर-पूर्वी पिजिन और क्रिओल भाषाएँ और आंध्र-उड़ीसा सीमा क्षेत्र में प्रचलित देसिया भी इसी प्रकार बनी हैं। हिंदी की अपनी भाषिक विषमता का बोध और देश में अन्य भाषाओं की भिन्नता के लिए आदर की भावना, ये दो बातें ऐसी हैं जिनसे देश में हिंदी व्यापकतर संप्रेषण की मुख्य भाषा के रूप में स्वीकार करने योग्य बन सकती है।

चर्चा के इस विंदु पर यह कहा जा सकता है कि क्या हिंदी पहले से ही व्यापकतर संप्रेषण की भाषा नहीं है? यह समझना आवश्यक है कि बहुभाषी समाजों में, समुदाय, अस्मिता, जातीयता के समान व्यापकतर संप्रेषण की भाषा भी एक बहुस्तरीय संकल्पना है। यहाँ हम, व्यापकतर संप्रेषण की एक ही भाषा की नहीं बल्कि व्यापकतर संप्रेषण की अनेक भाषाओं की चर्चा कर रहे हैं जो स्थानीय से अंतरराष्ट्रीय स्तर तक व्याप्त हैं। सभी राज्यों की क्षेत्रीय भाषाएँ उन राज्यों में रहने वाले विभिन्न भाषा-भाषियों की व्यापकतर संप्रेषण की भाषाएँ हैं। सदरी, देसिया और उत्तर-पूर्वी पिजिन जैसी भाषाएँ राज्य की सीमाओं को पार कर गई हैं और उन क्षेत्रों की व्यापकतर संप्रेषण की भाषाएँ बन गई हैं। अंग्रेज़ी, शिक्षितों के लिए व्यापकतर संप्रेषण की भाषा है और हिंदी, सारे देश में शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्गों के बहुसंख्यक लोगों के लिए व्यापकतर सप्रेषण की भाषा है। हिन्दी के संप्रेषण-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए न केवल यह आवश्यक है कि हिंदी अन्य भारतीय भाषाओं की प्रतिस्पर्धा न करे और न उनके लिए खतरा बने, बल्कि यह भी आवश्यक है कि मातृभाषा की बोधगम्यता तथा द्विभाषिकता को बढ़ावा दिया जाए।

जो लोग हिंदी के स्थान पर अंग्रेजी का व्यापकतर संप्रेषण की भाषा के रूप में प्रयोग करने के पक्ष में हैं उन्होंने अनेक तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा है। एक ऐसी ही विकृति मौलाना आज़ाद जैसे विशिष्ट व्यक्ति के भाषण में भी पाई गई है। संविधान सभा में आज़ाद ने कहा था, "उत्तर और दक्षिण की एकता सिर्फ अंग्रेज़ी के माध्यम से ही संभव हुई है। यदि आज हम अंग्रेज़ी को छोड़ दें, तो इस भाषिक संबंध का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा।" यह बात उन लोगों को लक्ष्य कर कही गई थी जो अंग्रेज़ी के स्थान पर हिंदी को लाना चाहते थे। लेकिन ऐसा कहकर मौलाना आज़ाद ने न सिर्फ उनके तर्क को स्वीकार किया है, बल्कि उस उपनिवेशी तर्क को भी स्वीकार कर लिया है कि बिना किसी उपनिवेशी भाषा के सहारे के भारतीय एकता और अखंडता जोखिम में पड़ जाएगी। यह भुला दिया गया कि अंग्रेज़ी से पहले संस्कृत और दक्खिनी ने उत्तर और दक्षिण के बीच की रिश्तेदारी को बढ़ाया था और इसी झोंक में अहिंदी-भाषियों को इन दो भाषाओं में हस्तक्षेप करने के विरुद्ध चेतावनी दे डाली गई।

भारतीय बहुभाषिकता की सशक्तता के मुख्य कारणों में से एक यह भी है कि कोई व्यक्ति हिंदी में बोले और दूसरा उसका अपनी मातृभाषा में उत्तर दे तो भी कामचलाऊ संप्रेषण बना रहता है। बार-बार मिलने और संबंधों के प्रगाढ़ होने से संप्रेषण की मात्रा बढ़ जाती है। यदि कुछ भाषाएँ संस्कृतनिष्ठता की ओर झुकें, अन्य कुछ अ-संस्कृतनिष्ठता या स्वभाषानिष्ठता, या अंग्रेज़ीनिष्ठता या फ़ारसी-निष्ठता का रुझान दिखाएँ, तो निश्चित है कि तनाव उत्पन्न होगा और पड़ोसी भी

अजनबी हो जाएँगे। संविधान की धारा 351 के प्रावधान के अनुसार राष्ट्रीयता के प्रतीक रूप में हिंदी के विकास के लिए क्षेत्रीय भाषाओं की विशिष्टता आधार बनेगी। इस धारा का हिंदी के कट्टर समर्थकों ने ही विरोध नहीं किया, बल्कि अहिंदी विद्वानों ने भी इसका मज़ाक उड़ाया। दोनों ने ही इस धारा के मूलभाव को नहीं समझा। सबसे पहले तो इस प्रावधान का मतलब मातृभाषा हिंदी से नहीं है, बल्कि द्वितीय भाषा हिंदी से है। यह 'क्षेत्रीय हिंदी' और 'राष्ट्रीय भाषा हिंदी' दोनों को अलग-अलग मानती है। यह सच है कि एक हिंदी दूसरी हिंदी को अवश्य प्रभावित करेगी, लेकिन यह भी सच है कि उनके बीच की भिन्नता भी स्पष्ट है और उस भिन्नता को पहचानना भी एक महत्वपूर्ण बात है। दूसरी बात यह है कि इस प्रावधान को लागू करने से एक ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार हो जाता जहाँ अहिंदी-भाषी राष्ट्रीय प्रतीक के रूप में हिंदी के विकास की प्रकिया में साझेदारी अनुभव करते और मातृभाषा की बोधगम्यता के सहारे हिंदी के साथ एकात्मता महसूस करते। इतिहास की यह विडंबना है कि हम राष्ट्रीय एकता को और मजबूत करने की बात तो करते हैं, परंतु संविधान में निहित उपायों को लागू न कर अपने सब प्रयत्नों पर पानी फेर देते हैं।

यह एक विचित्र बात है कि एक ओर तो राष्ट्र-भाषा हिंदी से मातृभाषा हिंदी को, और दूसरी ओर दोनों से राजभाषा हिंदी को अलग माना जा रहा है। राजभाषा हिंदी के अपर्याप्त विकास तथा उसके प्रचार में शिथिलता के लिए सरकार की आलोचना की जाती है तथा अहिंदी-भाषियों को राष्ट्रभाषा और मातृभाषा हिंदी में दखल न देने को कहा जाता है। इस विचार के समर्थक यह भूल जाते हैं कि भारतव्यापी हिंदी और राजभाषा की संपन्नता बड़ी सीमा तक मातृभाषा हिंदी की सपन्नता पर निर्भर है। उनमें से किसी एक को दूसरे से सर्वथा अलग करके लेना संभव नहीं है।

भाषा के प्रश्न पर देश में जो भी चर्चा और कार्य होते हैं उन्हें विरोध करने के रूप में देखा गया है। कुछ लोग हिंदी-उर्दू के विरोध को हिंदू-मुस्लिम विरोध का प्रतीक मानते हैं, जबकि सचाई यह है कि देश में 50% से भी कम मुसलमान उर्दू को अपनी मातृभाषा मानते हैं, और उर्दू भाषा हिंदू और मुसलमान दोनों की ही पवित्र विरासत है। हिंदू और मुसलमान दोनों ही लेखकों का इसकी संपन्नता में बराबरी का योगदान है। अन्य लोग हिंदी और अंग्रेजी के विरोध को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय विरोध का प्रतीक मानते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि बिना राष्ट्रीय के कुछ भी अंतर्राष्ट्रीय नहीं है। दूसरे, जो जितना अधिक स्थानीय है, वह उतना ही अधिक सार्वभौम है। यदि कोई पड़ोसी के दुख में दुखी नहीं होता है, तब दुखी मातृभूमि के लिए उसकी सहानुभूति को शंका की दृष्टि से ही देखा जाएगा।

तीसरे, यह स्वाभाविक है कि एक भाषा-भाषी देश के लोग अपने सभी कार्यों के लिए एक ही भाषा का प्रयोग करें, परंतु बहुभाषी देश में अनेक भाषाएँ, निर्धारित व्यवहार क्षेत्रों में, एक-दूसरे की पूरक बनकर प्रयोग की जाती हैं। उदाहरणार्थ, मुझे (इस लेखक को) ही लें। मैं घर में उड़िया बोलता हूँ, औपचारिक संप्रेषण के लिए अंग्रेज़ी का प्रयोग करता हूँ, कामकाजी उद्देश्य से संपूर्ण देश में अपनी टूटी-फूटी हिंदी से काम चलाता हूँ, संस्कृत का प्रयोग पूजा के साथ-साथ क्लासिकल साहित्य पढ़ने के लिए भी करता हूँ, आनंद के लिए बंगाली पढ़ता हूँ और अपनी अस्मिता के उत्कर्ष के लिए मराठी और कन्नड आदि भाषाओं का प्रयोग करता हूँ। कुछ अन्य लोग हिंदी और भारतीय भाषाओं के विरोध को राष्ट्रीय और क्षेत्रीय विरोध का प्रतीक बताते हैं। यह याद रखना अधिक महत्वपूर्ण है कि क्षेत्रीय विवाद राष्ट्र-विरोधी नहीं है और न ही क्षेत्रों के बिना कोई राष्ट्र होता है। आर्थिक विकास और राजनैतिक प्रतिनिधित्व में विसंगतियों के कारण क्षेत्रों के बीच संघर्ष हो सकता है, लेकिन सांस्कृतिक और भाषिक आधार पर कोई विरोध नहीं हो सकता; कारण, तब देश चिरकाल से एकान्वित सांस्कृतिक क्षेत्र बना रहा है। इन आधारभूत कारणों में से कुछ को न समझने के कारण हिंदी और अहिंदी दोनों ही लोगों के बीच भय व्याप्त हो गया है। कुछ को डर है कि भाषा के प्रश्न की चर्चा हिन्दी को संघ की शासकीय भाषा के रूप में मानने के संवैधानिक बंधन को चुनौती दे सकती है, औरों को डर है कि सभी भारतीय भाषाओं का बहिष्कार कर अंत में हिंदी को ही अकेली शासकीय भाषा के रूप में आरोपित किया जा सकता है। अंग्रेज़ी के स्थान पर हिंदी के प्रयोग का भय अन्य भारतीय भाषा भाषियों को हिंदी के विरुद्ध एक-जुट हो जाने के लिए ही उत्पन्न किया गया है। यह स्पष्ट करना जरूरी है कि देश से अंग्रेज़ी को हटाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। वास्तव में, गत वर्षों के दौरान केंद्र ने किसी भी एक भारतीय भाषा के बनिस्वत अंग्रेज़ी को अधिक सहायता दी है। हिंदी को अंग्रेज़ी से भिन्न भूमिका निभानी पड़ी है और इसलिए दोनों में विरोधभाव का कोई आधार नहीं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि गांधीजी ने सन् 1918 में यह लिखा था "जब तक लोगों के जीवन में हिंदी को उसका राष्ट्रीय स्तर और प्रदेशीय भाषाओं को उनका यथायोग्य स्थान नहीं दिया जाता, तब तक स्वराज्य की सभी बातें बेकार हैं।" यद्यपि गांधीजी ने भारत में एकता और संप्रेषण के निमित्त एक आम भाषा के लिए ज़ोर दिया था, फिर भी, उन्होंने इस पर विशेष बल दिया था कि यह आम भाषा क्षेत्रीय भाषाओं के साथ-साथ विकसित हो, न कि वह उनका स्थान ही ले ले। भाषा-राजनेताओं ने निजी स्वार्थवश उनके कथन के दूसरे भाग की उपेक्षा कर दी और गांधीजी जिन सिद्धांतों के पोषक थे उनके विरुद्ध उनके नाम को, अंग्रेज़

के स्थान पर एक आम भाषा के रूप में हिंदी के समर्थकों में शामिल कर लिया गया।

कुछ बातें ऐसी हो गई जिन्हें दुर्भाग्य ही कहा जाएगा—30 सदस्यों की समिति को नियुक्त कर धारा 344(5) को तो पुनरुज्जीवित किया गया, परंतु 344(1) को अमल में नहीं लाया गया जिसके अनुसार एक आयोग नियुक्त किया जाता जिसका काम हिंदी की प्रगति के आधिकारिक रिकार्ड की समीक्षा करना ही न होता, बल्कि भाषा के प्रश्न पर गहराई के साथ इस दृष्टि से विचार करना भी होता कि सार्वजनिक सेवाओं में अहिंदी-भाषी लोगों के उचित दावों और हितों की क्या स्थिति है। अहिंदी-क्षेत्रों को आयोग नियुक्त न होने की इस बात में खतरा महसूस हुआ। ऐसे आयोग के गठन से भारतीय भाषाओं के विकास के प्रति सरकार की गंभीरता में न केवल विश्वास की पुनः प्रतिष्ठा होती, वरन् उससे देश की अन्य भाषाओं के सहयोग से हिंदी के विकास में उचित सहायता भी मिलती।

अमरीका के संविधान में किसी भी शासकीय भाषा का उल्लेख नहीं किया गया था, फिर भी शासकीय भाषा के रूप में अंग्रेजी को अपनाया गया, उसको बढ़ावा दिया गया और उसका इस रूप में विकास भी किया गया। तथापि 'मेल्टिंग पॉट'[1] सिद्धांत और 'सैलड बाउल'[2] सिद्धांत अमरीका के योजना-निर्माताओं की आशाओं के अनुरूप सिद्ध नहीं हो सके, और अंग्रेजी भाषा को उत्तरी अमरीका की शासकीय भाषा के रूप में सार्वकीय रूप से मान्य करने की माँग सामने आ गई है। इसमें संदेह ही है कि यह गूढ़ भाषा-नीति संयुक्त राज्य अमरीका में अश्वेतों की अस्मिता की पहचान की माँग को दबा देगी। विश्व के अन्य देशों में भाषाओं को शासकीय भाषा का दर्जा दिए जाने के अलग-अलग तरीके रहे हैं, कहीं भाषायी बहुसंख्यक लोगों की भाषा को यह मान्यता मिली कहीं द्विभाषिक स्थिति में दोनों में से अधिक प्रभावी भाषा को यह पद दिया गया अथवा सुनियोजित कार्यक्रम के द्वारा किसी एक भाषा को सबसे अधिक स्वीकार्य बना दिया गया। यह जानने के लिए कि सहूलियतों के बावजूद भी हिंदी को राष्ट्रीय भाषा के रूप में लोगों ने क्यों स्वीकार नहीं किया है, उपर्युक्त सभी प्रश्नों की व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में परीक्षा करना आवश्यक है।

राष्ट्रीय पहचान का एक अकेला राष्ट्रीय चिन्ह जो सबको लेकर नहीं चलता वह एक बहुभाषी, बहुजातीय, बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक देश की सांस्कृतिक प्रकृति के विरुद्ध है। गांधीजी भारत के लोकाचार को अधिक अच्छी तरह-से जानते थे, इसीलिए उन्होंने अपने अंतिम संदेश में नियोजन की वैकल्पिक विधि के रूप में 'ओशनिक सर्कल'[3] की संकल्पना प्रस्तुत की जिसे पश्चिमी सभ्यता में पले हुए नेताओं ने न तो समझा और न उसे स्वीकार ही किया, और आधुनिकता की पश्चिमी आँधी के सामने पारंपरिक संस्कृति की रक्षा करने में भी वे असमर्थ रहे, तथा इतिहास की

द्वन्द्वात्मकता की प्रक्रिया में सांप्रदायिक शक्तियों को जो खुली छूट मिली उस पर भी वे काबू न पा सके। भाषिक, सांस्कृतिक एवं विकासात्मक दृष्टियों से केवल एक धारा की प्रधानता को, जिसमें केवल एक वर्ग के हितों की रक्षा और शेष सब की उपेक्षा हुई लगती थी, पुष्ट करने के जो प्रयत्न हुए उसके फलस्वरूप और उनकी तीव्रता की मात्रा के अनुपात में छोटे वर्गों में अपनी अस्मिता की भावना को जोर-शोर से प्रकट करने की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई। इस संदर्भ में मैथिली आंदोलन के प्रतिवेदन (पूर्व संदर्भित) के निष्कर्ष की टिप्पणियाँ काम की हैं। प्रतिवेदन में बताया गया है "मैथिली को मान्यता न मिलना आंदोलन के कट्टर समर्थकों के लिए अधिक हितकर है, क्योंकि इस तरह मैथिली भाषा और साहित्य की धारा को सुसमृद्ध करने का प्रयत्न तब तक जारी रहेगा, जब तक इसकी समृद्धि और विपुलता एक विशाल सागर का रूप न ले ले और सत्ताधारियों को इसे मान्यता देने के लिए मजबूर न कर दे। इसी तर्क के आधार पर भावी सरकारों और प्रशासकों के लिए मान्यता-प्राप्त मैथिली से अधिक खतरनाक मान्यता-वंचित मैथिली भाषा होगी। (पृ० 113)" यही भावना क्षेत्रीय और राष्ट्रीय भाषा के संबंध-निर्धारण के लिए भी स्वीकार्य हो सकती है।

हिंदी कुछ लोगों के लिए विशेषाधिकार और सुविधा की भाषा रही है। यह प्रभुत्व, शक्ति और ज्ञान की भाषा नहीं रही। बजाए इसके कि हिंदी नए क्षेत्रों में राष्ट्रीय भाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए अंतर्दृष्टि और अनुभव प्रदान करती, उसे अन्य भारतीय भाषाओं के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पेश किया जा रहा है। जब तक लोगों की वृत्ति बदल नहीं जाती और वे भाषा को एक शक्ति के रूप में ग्रहण नहीं करते, तब तक हिंदी देश की राष्ट्रीय और राजनैतिक अस्मिता का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाएगी और इस प्रकार संवैधानिक प्रावधान लागू न हो पाएगा और फलस्वरूप भारतीय संस्कृति के अस्तित्व को खतरा बना रहेगा।

टिप्पणियाँ

1, 2. अर्थात् संस्कृति संगम अथवा गुलदस्ता। ये संकल्पनात्मक शब्द उस स्थिति का निर्देश करने के लिए प्रयुक्त होते हैं जिसमें अनेक प्रजातीय और सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों का सम्मिलन या संगम होता है। रंग-बिरंगे फूलों से बने गुलदस्ते के समान, जिस तरह सलाद, गाजर, मूली, टमाटर आदि विभिन्न चीजों से सलाद की प्लेट तैयार होती है उसी तरह विभिन्न बहुभाषियों, बहुप्रजातियों और संस्कृतियों के सम्मिलन से एक क्षेत्र विशेष का विकास हो जाता है। वर्तमान में अमरीका, इज़रायल और ब्राज़ील आदि देश 'मेल्टिंग पॉट्स' या 'सलेड बाउल' कहे जाते हैं।

3. अर्थात् तरंग वृत्त। जिस प्रकार समुद्र में प्रत्येक लहर अपने केंद्र पर चक्राकार घूमती है और अपनी सत्ता और अस्तित्व की सुरक्षा के साथ-साथ उस

महासमुद्र की समृद्धि और अस्तित्व के लिए त्याग करते हुए अपने से बड़ी लहरों में विलीन हो जाती है, उसी तरह बहुभाषी और बहुप्रजातीय समाज में व्यक्ति अपनी अस्मिता की रक्षा करता है और साथ ही अपने से बड़ी सामाजिक इकाई के हित में अपने हितों का त्याग करता है और वह इकाई फिर अपने से बड़ी इकाई के लिए स्वार्थ त्याग करती है, इत्यादि। यह शृंखलाबद्धता एक वृत्ताकार स्थिति को जन्म देती है जिसका निर्देश 'ओशनिक सर्कल' शब्द के द्वारा किया गया है।

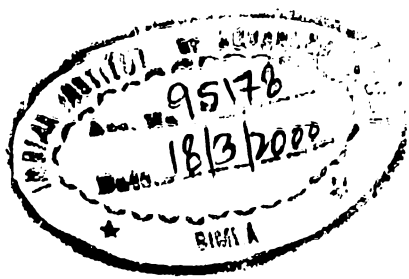

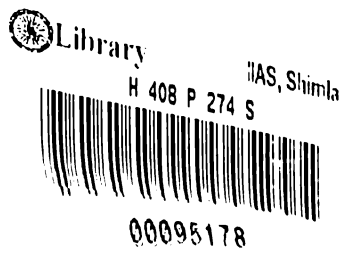
Library
IIAS, Shimla
H 408 P 274 S
00095178